Chapter 4

अध्याय - 4

गुप्तजी के काव्य में नारी जीवन का चित्रण

- गुप्तजी की काव्य रचनाओं की प्रमुख तथा गौण नारियाँ (उर्मिला, यशोघरा, दौपदी, हिलिम्बा, कैकेयी, सीता, कुन्ती, शकुन्तला, विघृता, विष्णुप्रिया, सची, उर्वशी, गांघारी, कौशल्या, सुमित्रा, मांडवी, श्रुतिकीर्ति, मंथरा, देवकी, शूर्पणखा, जेनी, रत्नावली, सुरभि, उत्तरा, सुभद्रा, रानकदे, मीनलंदे, रुपवती, महारानी सिसोदनी, इउडोसिया)

मैथिलीशरण गुप्तजी आधुनिक युग के कवि है । आधुनिक युग में नारी के प्रति कवियों का जो द्रष्टिकोण परिवर्तन हुआ वह परिवर्तन गुप्तजी की रचनाओं में हम देख सकते हैं । वे अपने युग से संपूर्णतः प्रभावित हुए थे । उनके काव्य का आरंभिक विकास सुधारवादी आंदोलन का युग था । गुप्तजीने नारी की महत्ता को अपने साहित्य के माध्यम से सशक्त शब्दों में अभिव्यक्त किया है । इस विषय में डो. सत्येन्द्रजी का कथन है – ''गुप्तजीने स्त्रियों में भारतीय आदर्श के ढाँचे में दिव्यता भरने की चेष्टा की है । स्त्रियों का जो भारतीय आदर्श दीर्घकालीन परंपरा मूक्ति के कारण अनुदार और रुखा-सा दीखने लगा था । और क्राँति के स्फूलिंगो को विस्फोटन के लिए प्रेरित कर रहा था, उसी को नये भावुक तर्क से सजाकर, नर आत्मा से अभिसिंचित कर दिया है ।''(1) नर-नारी दोनों एक दूसरे के जीवन को पूरक समझे गए । नारी को श्रद्धा और विश्वास की दृष्टि से देखा गया । भारतीय नारी को अर्द्धाँगिनी का रुप देते हुए कवि ने भारत-भारती में लिखा है - '' निज स्वामियों के कार्य में समभाग जो लेतीं न वे, अनुराग पूर्वक योग जो उनमें सदा देती न वें, तो फिर कहा तीं किस तरह अर्द्धाँगिनी सुकुमारियाँ, तात्पर्य यह अनुरुप ही थी 'नरवरों के नारियाँ' । ''(2) गुप्तजी के अनुसार अर्धांगिनी के सहयोग और सहभोग बिना पुरुष के सभी कार्य अधूरे रह जाते है । सहायिका और प्रेरणा-शक्ति के रुप में नारियों का महत्वपूर्ण स्थान है । वह महाशक्ति जननी या पत्नी के रुप में मनुष्य के सर्वतोन्मुखी विकास में योग देती है । कवि के अनुसार नारी के आश्रय से युक्त जीवन ही दिव्य जीवन है । गुप्तजीने साकेत में लक्ष्मण-उर्मिला के प्रेम-संवाद में भारतीय नव-दाम्पत्य जीवन की सुंदर झांकी की है । नवम सर्ग में रस उपेक्षिता नारी उर्मिला के विरह का चित्रण हुआ है । यह एक नवोत्थान का कवि ही कर सकता है ।

उर्मिला :-

राम-काव्य की परंपरागत उपेक्षा के पस्चात् उर्मिला को प्रधान नायिका का गौरव पूर्ण पर प्राप्त हुआ है । श्री नंददुलारे वाजपेयीजीके मतानुसार ''ऐसे नगण्य पात्र को जिसका अस्तित्व नाम मात्र को ही रहा हो, किसी काव्य की मुख्य भूमिका में लाकर प्रतिष्ठित करना दो द्रष्टियों से नया और क्रान्तिकारी प्रयत्न है'' (3) ये दो द्रष्टियां सामाजिक एवम् साहित्यिक है उर्मिला रामकाव्य का एक नया मोड़ है, जिसकी प्राण प्रतिष्ठा साकेत की कथावस्तु में, नूतनता का सूत्रपात करती है ।

साकेत महाकाव्य का सबसे महत्वपूर्ण पात्र उर्मिला का है । जिसमें हम उसे नव-परिणिता राजवधू एवं आदर्श गृहिणी के रुप में पाते हैं , दूसरे विरहिणी के रुपमें और तृतीय सर्वगुण संपन्न आदर्श नारी के रुप में पाते हैं । प्रथम सर्ग में ही उर्मिला के दर्शन होते हैं, जहाँ उसे अनिंद्य सौन्दर्य शालिनी, दिव्य गुण सम्पन्न नव-परिणीता राजवधू के रुपमें कवि ने प्रस्तुत किया है । गुप्तजीने 'मूर्तिमयी उषा',

'सजीव सुवर्ण की नयी प्रतिमा', 'विधि के हाथों ढली', 'कल्प शिल्पी की कला' कहकर उर्मिला की मनोरम रुपाकृति का चित्र अंकित किया है । 'उर्मिला' नाम के औचित्य को सार्थक करनेवाली उर्मिला, आह्लाद में अरुणपट पहने हुए, प्रकट मूर्तिमती उषा के समान, स्वयं विधि के हाथ से ढली गई सजीव स्वर्ण की नई प्रतिमा-सी प्रतीत होती है ।[4] गुराई से मिलता हुआ आरुण्य, हीरकों में जड़े गोल नीलम से बड़े-बड़े नेत्र, पद्मराग से अधर, मोतियों से दाँत, धन पटल से केश, कांत कपोल, उसके झलकता आता तारुण्य गुराई से मिलता हुआ आरुण्य उसे एक अनिंद्य सुन्दरी के रुप में प्रस्तुत करते हैं ।[5] कविने उसे 'स्वर्ग का सुमन' कहकर सम्मानित किया है। वह स्वर्गीय बाला वस्तुतः स्वर्ग का वह पुष्प है जो पृथ्वी पर आकर खिला हुआ है। उसके विभिन्न शील-गुणों की सुगन्ध की तरंग प्रवाहमान होकर संसार रुपी समुद्र में अनेकानेक दिव्य भावों की सृष्टि करती है।

''स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला,
नाम है इसका उचित ही 'उर्मिला'।''[6]

उर्मिला की मंजरी सी ऊंगलियों में कला वास करती है।[7] उर्मिला का रमणी हृदय आह्लाद, उत्साह और उमंगो से भरा है। उसे अवश-अबला होना स्वीकार होता है। वह पति को देव बनाकर रखना चाहती है क्योंकि उसकी आकांक्षा देवी बनना है अर्थात दासी की संज्ञा उसे स्वीकार नहीं।[8] इस प्रकार उसका दाम्पत्य जीवन उसे एक मानमयी, प्रेममयी, विनोदमयी, कलामयी और भक्तिमयी के रुपमें प्रस्तुत करता है। प्रथम सर्ग में ही के हृदय पटल पर उर्मिला का हास्य वयंग्य, विनोद वार्ता एवं पति परायणता के साथ स्वाभाविक सैन्दर्य की अमिट छवि अंकित कर देती है।

उर्मिला नारी है, उस पर भी एक पत्नी । एक पत्नी के लिए सबसे महान् दुःख पतिवियोग होता है । उर्मिला नववधू है, इन चौदह वर्षों के वियोग-भार को लेकर कैसे जीवित रहे ? उर्मिला अत्यंत भोलीभाली, सुकुमार एवं कोमल-हृदया नारी है । अन्य सभी बहिने अपने-अपने पतियों का सामीप्य-लाभ कर रही हैं, परन्तु उर्मिला पर यह विधाता का प्रचंड प्रकोप हुआ है । वह प्रिय के लौट आने की आशा में चौदह वर्ष व्यतीत करने का संकल्प करती है । उर्मिला अपने पति के साथ वन जाने का आग्रह न कर अपने महान् धैर्य एवं त्याग का परिचय देती है । उर्मिला अपने मन को प्रिय पथ का विघ्न नहीं बनने देती । वह अपने हृदय में धैर्य धारण करके अपने मन को यह कहकर समझा लेती है –

''कहा उर्मिला ने - हे मन ! तू प्रिय पथ का विघ्न न बन ।
आज स्वार्थ है त्याग भरा ! हो अनुराग विराग भरा !
तू विकार से पूर्ण न हो, शोक-भार से चूर्ण न हो ।'' [9]

यहाँ उर्मिला का निस्वार्थ त्याग, धैर्य एवं विश्व तथा परिवार के प्रति कर्तव्य उभर कर आता है । उसकी

यह मंगल - कामना उसे गृहिणी एवं भार्या के पद पर अंकित कर देती है और वह एक साधारण वधू न रहकर असाधारण देवी बन जाती है । प्रिय वियोग में वह जीवन की अपेक्षा मृत्यु को अधिक श्रेयस्कर समझती है। यही कारण है कि उसमें जीवनकी अपेक्षा मृत्यु की प्रवृत्ति प्रबल हो उढती है और राम-सीता के वार्तालाप को सुनकर राजा-सुखों में पली हुई उर्मिला लक्ष्मण से बिछुड़ते ही अपने धैर्य को नहीं सँभाल पाती और 'हाय' कहकर मूर्छित होकर घड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ती है। -

''सतियो को पति-संग कहीं-अगम गहन क्या दहन नहीं ।
सीता और न बोल सकी, गद्गद कंढ न खोल सकीं ।
इघर उर्मिला मुग्घ निरी-कहकर ''हाय !''घड़ाम गिरी ! ।''(10)

उर्मिला की यह मूर्च्छा यदि एक और उसकी मृत्यु की मनोवैज्ञानिक मूल प्रवृत्ति की द्यौतक है तो दूसरी और उसके मनोवैज्ञानिक स्थायीभाव पति-प्रेम तथा प्रिय के साहचर्य की उत्कट कामना की प्रवृत्ति है।

पति वियोगकी वेदनामें वह लावण्य मूर्ति उर्मिला कुम्हलाई लता के कृशकाया, पीली मुखकान्ति एवं अशान्त नीली, आंखे लिए मूर्छित मौन पडी दिखाई देती है। (11) उर्मिला की दशा बडी दयनीय हो जाती है। दशरथ उसे 'रघुकुल की असहाय बहू कहते है। उसका सुख-संतोष एवं हास्य परिहासमय जीवन तथा उसकी बुद्धिमत्ता, वाक्पटुता एवम् परिस्थिति अनुकूलन - क्षमता स्पृहनीय है; उसका सतीत्व एवम् पातिव्रत्य स्तुत्य एवम् अनुकरणीय; उसकी सहिष्णुता, विनम्रता एवम् शालीनता कमनीय और उसका वीरांगना रुप आनन्दोत्पादक एवं अभिनंदनीय । जो कैकेयी उसकी करुणाजनक परिस्थिति का कारण थी, उसके प्रति भी उसके हृदय में कोई आक्रोश नहीं। अपनी इसी सरल-निश्चल, शालीन एवम् क्षमाशील प्रवृत्ति के कारण वह ससुर दशरत की मृत्यु पर उससे यह कहकर उसके समक्ष निश्चेष्ट हो गिर पड़ती है-

''माँ, कहाँ गये वे पूज्य पिता ? करके पुकार यों शोक - सीता,
उर्मिला सभी सुघ-बुघ त्यागे, जा गिरी कैकयी के आगे! ।'' (12)

इस प्रकार कुटुंब-प्रेम, समाज-प्रेम तथा देश-पेम के मनोवैज्ञानिक स्थायीभावों का भी उसके व्यकितत्व में पर्याप्त योग है। अपनी बहनो तथा कुटुंब के अन्य सदस्यो के प्रति तो उसके हृदय में अगाढ़ प्रेम है ही, विमाता कैकेयी के प्रति भी उसके हृदय में कोइ दुर्भाव नही।

चित्रकूट में सीताजी के प्रयत्न से उसकी भेंट लक्ष्मण से होती है तब लक्ष्मण को संकुचित

एवम् भयभीत देखकर अपने स्वार्थ पर विजय प्राप्त कर कहती है - 'मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी, मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो मय भारी।' (13) यहाँ वह त्याग, सेवा, करुणा, प्रेम, सहिष्णुता एवं महत्व की प्रतिमूर्ति है। पति के संतोष के लिए अपने सुख दुःख की चिंता नहीं करती - ''पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो, मुझे उसीमें है सन्तोष।'' (14)

क्षणिक मिलन के उपरांत उर्मिला की व्यथा और भी तीव्र हो उठती है। विरह में रात-दिन जलती है स्वामी के घ्यान में वह आत्मविस्तृत हो जाती है। वियोग की वेदना से अतिशय आक्रंत होकर वे अवधि को भूल जाती है। बिना प्रयोक्ता के भोग, रोग हो जाते है, और उसके हृदय की विरहाग्नि तालवृन्त से घधक उढ़ती है। प्रिय के वियोग में उपवन को वन बनाती है। उर्मिला का यह विरहिणी रुप अत्यंत करुणा एवम् शोक से परिपूर्ण है। सखी सुलक्षणा के समक्ष उसके विरहोद्‌गार अश्रु बन जाते है। कुल कलंक को अश्रुजल से घोती है। तथा अपने मन मंदिर में प्रिय की प्रतिमा स्थापित कर, संपूर्ण भोगों को त्याग कर अपना जीवन योगमय बना लेती है।

''मानस-मंदिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती-सी उस विरहमें, बनी आरती आप !
आँखो में प्रिय - मूर्ति थी, भूले थे सब भोग,
हुआ योग से भी अधिक उसका विषम-वियोग!'' (15)

उसकी आँखों में प्रिय की मूर्ति बसी हुई थी, भोग भूले से थे और उसका विषम वियोग, योग से भी अधिक था। उर्मिला प्रोषित पतिकाओं के दुःखमें समदुःखिनी भी होना चाहती है। मनोवैज्ञानिक द्रष्टि से दुःखी व्यक्ति दो प्रकार के देखे जाते है। प्रथम वे जो अपने दुःखमें सबको दुःखी देखना चाहते है। दूसरे वे, जो अपने दुःख की असहनीयता को देखकर यह कामना करते हैं कि ऐसा असह्नीय दुःख किसी को न मिले; हम दुःखी है तो क्या, दूसरे सुखी रहें। 'उर्मिला' का व्यक्तित्व दूसरे प्रकार का चित्रित किया गया है। उर्मिला की स्मृतियाँ प्रिय वियोग में उसे जीवन की प्रेरणा देती है। -

''प्रियतम के गौरव ने लघुता दी है मुझे, रहें दिन भारी।
सखि, इस कटुता में भी मधुस्मृति की मिठास, मैं बलिहारी!'' (16)

यह विरोघाभास है। ऐसे ही कवि शैली के इस कथन को देखिए

"Our sweetest songs are those
that tell of saddest thoughts." (17)

उर्मिला की विरह वेदना के उच्छ्‌वास नवमसर्ग के छंदो में करुणा का स्त्रोत बनकर

फूट पड़ते है। उसकी पीली पडी मुख-कान्ति एवं नीली-नीली अशांत आँखे वियोग-जनित वेदना का व्यकत करती है। उसे सिर्फ इस बात का खेद है कि वह नाथ का साथ भी न दे सकी। प्रिय के वियोग में इस असहाय बहु के लिए अम्बु, अवनि, अम्बर में स्वच्छ शरत की पुनीत स्वच्छ क्रीडा अवधि पित-पीड़ासी हो जाती है। [18] उर्मिला का प्रेम विषम लिंगी है जो उसकी अनन्यता एवम् नैतिकता से सर्वत्र मर्यादित, संयमित एवं अनुशासित है। यही कारण है कि वियोगावस्था में कामदेव जब उसे अधिक पीड़ित करता है तो वह उसे चुनौती देती हुई कहती है -

''नहीं भोगिनी यह मैं कोइ, जो तुम जाल पसारो,
बल हो तो सिन्दूर-विन्दु यह - यह हरनेत्र निहारो!'' [19]

यहाँ सतीत्व का प्रतिनिधित्व हुआ है। इस समय यदि काम भी आकर वियोगिनी बाला को सताता है, तो उसे फटकार देती है, और शिव के तृतीय नेत्र के तुल्य अपने सिंदुर-बिन्दु को दिखाकर उसे भयभीत कर देती है। धर्म एवम् नैतिकता से विमुख होना उर्मिला के लिए सह्य नहीं है। वह अपने चपल यौवन को भी 'अचल अंचल' में सो जाने का आदेश देती है।

''मेरे चपल यौवन - बाल!
अचल ऊंचल में पड़ा सो, मचलकर मत साल,'' [20]

14 वर्ष तक अपने प्रिय लक्ष्मण की प्रतीक्षा करती है, वियोग की गुरु भारमयी अवधि-शिला को अपने नेत्रो की अश्रुधारा से तिल-तिल काटती है किन्तु धर्म छोड़ कर अपने प्रिय से मिलना नहीं चाहती। प्रिय के सतत ध्यान के कारण दृष्टि विभ्रम के फल स्वरुप जब वह लक्ष्मण को अपने सामने देखती है तो पहेले तो उनका स्वागत सत्कार करती है किन्तु ज्यों ही उसे लगता है कि वे अग्रज राम तथा अपनी भाभी सीता के बिना लौट आये है तो तुरंत उनसे पुनः वन को लौट जाने का आग्रह करती है-

''घर फिरे तुम्ही मोरमें कही तब हुए तपोभ्रष्ट क्या नहीं ?
च्युत हुए अहो नाथ, जो यथा, धिक! वृथा हुई उर्मिला-व्यथा।'' [21]

प्रिय के कर्तव्य एवं धर्म-मार्ग में बाधक बनने वाली अपनी विरह-व्यथा को धिक्कारती है और उन्हे तपोभ्रष्ट हुआ जानकर पश्चाताप करती है। जब उसे ऐसा लगता है कि वे उसके सामने से हटे नहीं तो वह उनकी भर्त्सना करती हुई कहती है कि -

''धिक! तथापि हा सामने खड़े? तुम अलज्ज-से क्यों यहाँ अड़े ?

जिघर् पीठ दे दीठ फेरती, उघर मैं तुम्हे ढीठ, हेरती।
तुम मिलो मुझे घर्म छोड़के, फिर मरुँ न क्यों मुण्ड फोड़के ?'' (22)

यहाँ घृणा और ग्लानि एक साथ व्यकत हुए है। तन्मयता का वर्णन है। और घर्म-संबंधी आक्रोश का उत्कर्ष वरण है। गुप्तजी का लक्ष्य विरहिणी उर्मिला की महत्ता का प्रतिपादन है। उन्होने उसके मनोवैज्ञानिक स्थायी भाव पति-प्रेमकी उत्कृष्ट प्रतिष्ठा द्वारा उसके व्यक्तित्व को महत्व प्रदान किया है जो कभी भी कम नहीं हो सकता। उर्मिला के वियोग की अवघि इतनी लम्बी है कि उसमे यौवन का पूर्वार्द्ध ही समाप्त हो जाता है; किन्तु उसके पति-प्रेम में कभी कोइ अंतर नहीं आया। उसकी साघना महान है, उसकी अनन्यता, वंदनीय और सहिष्णुता अपरिमेय। उसका कथन कि -

''डूब बची लक्ष्मी पानी में, सती आग में पैढ,
जिये उर्मिला, करे प्रतीक्षा, सहे सभी घर बैठ।''(23)

इस तरह उस पर अवघि शिला का गुरुभार धर कर उसे द्रग-जल-घार से तिल-तिल काट रही थी। (24) विरहिणी उर्मिला अपने प्रासाद-कक्ष की खिड़की में खड़ी, होकर सरयू नदी को सम्बोघित करते हुए कहती है –

''खिड़की पर उर्मिला खड़ी, मुँह छोटा, अँखियाँ बड़ी बड़ी!
कृश देह, विभा भरी भरी, घृति सूखी, स्मृति ही हरी हरी!
उड़ती अलकें जटार्जनी, बनने को प्रिय-पाद-मार्जनी!
सजनी चुप पार्श्व से छुई, अथवा देह स्वयं द्विघा हुई!'' (25)

यहाँ साधवी नायिका उर्मिला के वियुक्त जीवन के पूर्व रुप एवम् पूर्वराग की झाँकी प्रस्तुत होने के अतिरिक्त उसकी स्मृतियों की टीस एवम् चुभन की मार्मिक व्यंजना भी होती है।

उर्मिला रघुकूल की वधू है और विदेहराज जनक की पुत्री। उसके पिता और पति दोनों की ही वंश-परंपरा महान् है। दोनों का ही समस्त भूमण्डल में सम्मान हैं और दोनों ही अपनी कर्तृत्व तथा धार्मिक वृत्तियों के लिए विश्वविख्यात हैं। यही कारण है कि यदि एक ओर वह अपने पति की वंश-परंपरा के महत्व का गान करती है तो दूसरी और अपने पिता की वंश-परंपरा का। उसका कथन है :-

''सरयू, रघुराज वंश की, रवि के उज्जवल उच्च अंश की,
सुन, तू चिरकाल संगिनी, अयि साकेत - निकेत -अंगिनी!''(26)

उर्मिला के पिता जनक राजा महान् पुण्यात्मा थे। गृहस्थ होकर भी वे अनासक्त, रोगी होकर भी विरागी,

राजा होकर भी योगी और शरीरधारी होकर भी अशरीरी एवं ऋषितुल्य पूण्यात्मा थे। अनुराग, त्याग एवम् विराग उसकी वंशानुक्रमिक विशेषताएँ है और परिवेश भी इसकी इन विशेषताओं का पोषक है । मिथिला हो चाहे अयोध्या, दोनों ही परिवेशों से उर्मिला को अपने व्यक्तित्व के शील-गुणों तथा धार्मिक एवम् नैतिक प्रवृत्तियों की पृष्टि की प्रेरणा मिलती है । माता-पिता तथा पूर्वजों से प्राप्त वंशानुक्रमिक तत्व उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं ।

संयोगिनी एवम् वियोगिनी के अतिरिक्त उर्मिला के व्यक्तित्व का सब से महत् स्वरुप उसके नारीत्व का प्रखरतम रुप उसके क्षत्राणी वेश में द्रष्टिगोचर होता है । उसके चरित्र के सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विरह-व्यथित होकर भी स्वदेश-प्रेम, स्वाभिमान एवम् वीर-भावना से ओतप्रोत दिखाई पड़ती है । सीता-हरण और लक्ष्मण-शक्ति के प्रसंग को हनुमान से सुनकर जब समस्त साकेत वासी रावण से युद्ध करने के लिए सुसज्जित होकर अपने-अपने घर से निकल पड़ते है और अपनी भारत-लक्ष्मी को शत्रु के कारागार से मुक्त करने के लिए, अबला के अपमान का बदला लेने के लिए तथा सोने की लंका को लूटने के लिए जब शत्रुघ्न अपने प्रजाजनों को आदेश देते हैं, तब उर्मिला माथे पर सिंदूर और हाथ में भाला लेकर दुर्गा-कासा वेश धारण करके गरजती हुई आ उपस्थित होती है और शत्रुघ्न के आदेश का खण्डन करती हुई अपनी ओजस्विनी एवम् तेजस्विनी वाणी में स्पष्ट घोषणा करती है –

''गरज उठी वह नहीं, नहीं, पापी का सोना,
यहाँ न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना।'' (27)

यह वीरांगना पापी के घन को अपने यहां लाने का निषेघ करके वीर सैनिको में अपनी मातृभूमि के प्रति अट्ट श्रद्धा, अपूर्व भक्ति एवम् असीम प्रेम जागृत करती है। वाजपेयीजी लिखते है - ''उर्मिला सैनिकों को युद्ध तथा अहिंसा का पाठ पढ़ाती है। कवि बकरी के दूघ की भी व्यवस्था करनेवाला था, पर उर्मिला के आंसुओ ने उसे रोक दिया।'' (28) उर्मिला सैनिकों को युद्ध और अहिंसा के बारे में समझाते हुए कहती है : सैनिको तुम्हें मातृभूमि की इज्ञत का ख्याल रहे। हिमालय सा तुम्हारा भाल कभी न झुके। चन्द्र और सूर्य कुल की कीर्ति को मिट्टी में मत मिलाओ। तुम्हारा व्यवहार इस प्रकार रहे कि शत्रु भी तुमसे प्रभावित होकर शिक्षा ग्रहण कर ले।

''मातृभूमि का मान घ्यान में रहे तुम्हारे,
लक्ष लक्ष भी एक लक्ष रक्खो तुम सारे।'' (29)
''विन्घ्य-हिमालय-भाल, भला ! झुक जाय न घीरो,
चन्द्र-सूर्य-कुल - कीर्ति-कला रुक जाय न वीरो !'' (30)
''पावें तुमसे आज शत्रु भी ऐसी शिक्षा,

जिसका अर्थ हो दण्ड और इति दया-तितिक्षा।'' (31)

उर्मिला में सेवा-भावना भी विद्यमान है। वह वीर क्षत्राणी केवल रण-क्षेत्र में ही कौशल दिखाने की क्षमता नहीं रखती, किन्तु वह आहत सैनिकों के घावों पर मरहम-पट्टी, उन्हें पानी पिलाने तथा उनकी अन्य सेवाएँ करने के लिए भी स्वयं को अर्पीत करती है। वह विरहिणी हे; किन्तु कर्तव्य निष्ठ एवम् संयमशील। वह कहती है कि में जागृत रहकर सैनिकों को पानी दूँगी। विजय पर गाऊँगी और पराजित, घायल, दुखियों पर रोऊंगी जैसे महात्मा गाँधीजी ने दक्षिण आफ्रिकामें जुलू विद्रोह के समय घायलों की सेवा की थी। इस प्रकार उर्मिला सेवा-सुश्रुषा की भावना से सैनिको से कह रही है -

''वीरो, पर, यह योग भला क्यों खोऊँगी मैं,
अपने हाथों घाव तुम्हारे घोऊँगी मैं।
पानी दूँगी तुम्हे, न पल भर सोऊँगी मै,
गा अपनों की विजय, परों पर रोऊँगी मैं।'' (32)

इस तरह उर्मिला के व्यक्तित्व के संधटक पति प्रेम, कुटुंब प्रेम, घार्मिकता एवम् नीतिप्रेम तथा समाज-प्रेम एवम् देश-प्रेम उल्लेखनीय है। उर्मिला सभी प्रकार के आडम्बरों से रहित सरलता एवम् स्वाभाविकता से परिपूर्ण जीवन व्यतीत करना अधिक समझती है। डो.श्यामसुन्दर दास व्यास ने लिखा है - ''काव्य की यह चिर उपेक्षिता, साकेत मेंही नहीं, हिन्दी महाकाव्यो की चरित्र भूमि में प्रथमबार जिस वेष में प्रकट होती है, वह वेष अश्रुविगलित होकर भी ओजमय, आदर्श-प्रघान होकर भी स्वाभाविकता के निकट एवम् दैवी गुणों से मण्डित होकर भी नारी सुलभ है।'' (33) डो.सत्येन्द्रने उर्मिला के चरित्र की तुलना दिव्यदीप से करते हुए लिखा है - ''उर्मिला, घरमें जलाये गये उस आशापूत दिव्य दीपशिखा की भाँति प्रज्ञवलित है जो दूरदेशगामी पुरुषों को प्रकाश प्रदान करने की कामना का प्रतीक है।''(34) उर्मिला के चरित्र के बारे में डो.कमलाकान्त पाठक के शब्दोमें - ''राम और सीता के स्थान पर भरत और उर्मिला के जीवन सूत्रो से कथातंतु का निर्माण साहित्यिक इतिहास में एक प्रवर्तन है और विचारों की दुनिया में एक अभिनव क्रांति है।'' (35)

साकेतकार 'गुप्तजी' का प्रमुख उद्वेश्य उपेक्षिता उर्मिला के महान् व्यक्तित्व का अनुमान-निर्माण तथा उसकी कल्पना करके उसे प्रकाश में लाना और उसके विभिन्न आदर्शो को नारी-समाज के समक्ष रखकर उसे उनसे प्रभावित करना है। उसके उत्कट प्रेम, विरह की एक दो वर्षो की नहीं, चौदह वर्षो की दीर्घ अवधि ही निरन्तर प्रतीक्षा; वियोग- जन्य असह्य उत्ताप एवम् अधीरता; अभिलाषा; चिन्ता, स्मरण, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, जीवन एवम् पतिप्राणा साघ्वी रुप का चित्रण उसका प्रमुख लक्ष्य है।

उसका विभिन्न आदर्शो का पुंजीभूत व्यक्तित्व समाज के लिए मार्ग-दर्शक आलोक-स्तंभ का कार्य करता है ।

यशोधरा :-

कवि गुप्तजी के अनुज श्री सियारामशरणजी के आग्रह पर 'यशोधरा' काव्य-कृति का सृजन हुआ है । गुप्तजीने यशोधरा के शुल्क में लिखा है कि ''भगवान बुद्ध और उनके अमृत-तत्व की चर्चा तो दूर की बात है, राहुल-जननी के दो-चार आँसू ही तुम्हें इसमें मिल जायँ तो बहुत समझना । और , उनका श्रेय भी 'साकेत' की उर्मिला देवी को ही है, जिन्होंने कृपा पूर्वक कपिलवस्तु के राजोपवन की ओर मुझे संकेत किया है ।''(36) विरहिणी यशोधरा और 'राहुल-जननी' शीर्षक के अंतर्गत माता-पुत्र का वात्सल्यमय चित्र नया है । मानिनी यशोधरा के हृदय-भावों का विस्तृत अंकन हुआ है । गुप्तजीने युग-युग की तपस्विनी नारी का बड़ा उदात्त चित्र खींचा है । बुद्ध भगवान की सहधर्मिणी यशोधरा के विरह-जीवन का चित्रण गांधीवादी-धारा के अनुरुप ही हुआ है । बुद्ध भगवान के विरागी बनने में सहायक यशोधरा अंत में अपने पुत्र राहुल को भी बुद्ध भगवान के चरणों में अर्पित कर अपनी त्याग की पराकाष्ठा को दिखाती है ।

सिद्धार्थ के मनमें संसार के प्रति विरक्ति की भावना उत्पन्न होती है और दुख का निदान करने के लिए एक दिन वे गृहत्याग करते हैं । सिद्धार्थ यशोधरा को सुप्तावस्था में छोड़कर चले जाते हैं । यह बात यशोधरा को गहरी चोट पहुँचाती है । गुप्तजी ने यहाँ यशोधरा को प्रमुख रुप से रुपगर्विता और मानिनी रुप में चित्रित किया है । तथा पत्नी स्वरुप को प्रधानता दी है । उसे बताए बिना घर छोड़कर उन्होंने उसे अपमानित किया – विश्वासपात्र नहीं समझा । एक पत्नी के लिए इससे बड़ी लज्जा की बात ओर क्या हो सकती है । इस तरह पति के छोड़कर जाने से वे किसी को कुछ कह भी नहीं सकती । क्योंकि वह अपने को परित्यक्ता समझे ? या कुछ और ? शुद्धोदन चाहते हैं कि बुद्ध को तप-विरत किया जाय, परंतु यशोधरा राजी नहीं होती - वह कहती है कि –

''तात, सोचो क्या गये वे इसी अर्थ हैं ?
खोज हम लावें उन्हें, क्या वे असमर्थ हैं ?''(37)

छन्दक द्वारा यह समाचार मिलने पर कि सिद्धार्थ ने सिर के बाल काट कर यती का भेष बना लिया है । तो यशोधरा भी अपने सिर के बाल काट डालती है और कहती है मुझे इस श्रृंगार की आवश्यक्ता नहीं । अर्थात एक पतिव्रता नारी पति वियोग में अपने श्रृंगार को तुच्छ समझती है । वह कहती है कि मैं राहुल के साथ ही दुःख के दिन बिता दूँगी – वही तो उनकी थाती है । जब भी वे बोधिसत्व लाभ कर लौटेंगे, तो

उनकी यह थाती उन्हें सौंप दूँगी । अपने पतिव्रत्य के बल पर वह अपने दुखों को सहनकर पति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को भी दूर करने की बात करती है । –

''बस सिन्दूर - विन्दु से मेरा जगा रहे यह भाल,
वह जलता अंगार जला दे उनका सब जंजाल।'' (38)

कवि ने नारी की त्याग की भावना को भी प्रस्तुत किया है । उसे किसी भी प्रकार का लोभ नहीं है । सिर्फ उसके भीतर एक ही कसक उठ रही है कि नाथ ने उस पर विश्वास नहीं किया। वह कहती है कि यदि वे मुझे कहकर जाते तो क्या मैं इतनी स्वार्थिनी थी जो उन्हें रोक लेती, या राज्य त्यागकर जाने न देती ? उसका तप, उसकी मंगलाकांक्षा, उसका सुहाग पति के साथ है –

''जाओ नाथ ! अमृत लाओ तुम, मुझमें मेरा पानी,
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी ।
प्रियतम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बस हे दानी -
कहाँ तुम्हारी गुण-गाथा में मेरी करुण-कहानी ?
तुम्हें अप्सरा-विघ्न न व्यापे यशोधरा करधारी ।
आर्य पुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी वारी ।''(39)

यशोधरा राजभवन में है और उसके प्रियतम वन में । वह विरह की आग में जल रही है । फिर भी उसे अभिमान है , उसे विश्वास है कि भक्त कहीं नहीं जाते, मेरे भगवान् एक दिन यहीं इसी आँगन में जरुर लौटकर आएँगे ।

''तो आवेंगे एक दिन, निश्चय मेरे राम।
यहीं इसी आँगन में, सखि, प्रियतम है वन में ?''(40)

यशोधरा पुत्रवती वियोगिनी वात्सल्य और करुण-विप्रलंभ से, अपने रोते हुए पुत्र राहुल को भी कहती है, मेरे अभागे पुत्र तू किसके आगे रोता है ? मैं तो हूँ रोने को, तू हँस दे, अपने भाग्य एक दिन खुलेंगे। गुप्तजी यशोधरा के चरित्र की गरिमा नारी की शक्ति और उसकी करुण स्थिति को उद्घाटित करते हुए कहते है कि –

''अबका जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी -
आँचल में है दूध आँखो में पानी !'' (41)

उनके अनुसार नारी विरह से तत्पर हो कर अश्रुजल का दान देती है और आँचल के दूध से स्वयं क्षीण हो

कर अपनी संतान को पुष्ट बनाती है । नारी जीवन के समग्र रुप को प्रस्तुत करते हुए कवि ने अबला जीवन ही नारी की कहानी है । नारी हृदय के उदार दान, त्याग, एवं ममत्य की व्यंजना 'आँचल के दूध' से की है । और 'आँखो में पानी' उसकी वियोग-वेदना का सूचक है, एवं लज्जा और स्वाभिमान का परिपाचक है । बसंत के प्राकृतिक विलास में जब कोयल कूकती है, चातक 'पिउ-पिउ' की रट लगाते हैं तब विरहिणी यशोधरा का हृदय भी रुदन करने लगता है और सूना जान पड़ता है । परन्तु पुत्र राहुल के पीछे वह अपना सारा दुःख भूल जाती है, उसका वात्सल्य पुत्र में उमड़ पड़ता है –

''ठहर, बाल गोपाल कन्हैया । राहुल, राजा भैया !
कैसे धाऊँ, पाऊँ तुझको हार गई मैं दैया,
सद्द दूध प्रस्तुत है बेटा, दुग्ध -फेन-सी शैया ।
तू ही एक खिवैया, मेरी पड़ी भँवर में नैया ।
आ, मेरी गोदी में आजा, मैं हूँ दुखिया मैया ।
''मैया है तू अथवा मेरी दो थन वाली मैया ?
रोने से यह रिस ही अच्छी, तिलीलिली ता थैया !''[42]

जैसे-जैसे राहुल बड़ा होता है माँ से तरह-तरह के प्रश्न करने लगता है – ''अम्ब, तात कब आयेंगे ?'' तो यशोधरा पुत्र को सांत्वना देते हुए कहती है कि –

''धीरज धर बेटा, अवश्य हम उन्हें एक दिन पायँगे ।
मुझे भले ही भूल जायँ वे तुझे क्यों न अपनायँगे,
कोई पिता न लाया होगा, वह पदार्थ वे लायँगे ।''[43]

राहुल के अनेकानेक प्रश्न पूछने पर वह तरह-तरह की बातों से उसे भूलाना चाहती है, परन्तु चतुर बालक भूलता ही नहीं । माँ पिता की अनेक कहानियाँ सुनाकर अपने मन की व्यथा को शीतल करती है । दिन में तो किसी तरह गर्विणी गोपा अपने दुःख को छिपा लेती है, पुत्र राहुल से दिल बहला लेती है , परन्तु रात की निरवता में उसके आँसू थमते नहीं है । यशोधरा धीरे-धीरे परिस्थिति से समझौता भी कर लेती है । कहती है कि –

''अब क्या रक्खा है रोने में ?
इन्दुकले, दिन काट शून्य के किसी एक कोने में !''[44]

राहुल ही यशोधरा के जीवन का प्राण बन जाता है । वह आगे कहती है कि –

''राहुल, निज रानीपन देकर तेरी चिर परिचर्य्याँ पाऊँ ।
तेरी जननी कहलाऊँ तो इस परवश मन को बहलाऊँ ।''(45)

विरहिणी यशोधरा में यह परिवर्तन हो जाता है कि अब वह राहुल के नाते जीती है । यहाँ यशोधरा राहुल और पति की चिन्ता में रत कर्तव्य परायण चित्रित हुई है । कवि की दृष्टि मूलत : पत्नी यशोधरा पर केन्द्रित रही है । निश्चय ही यशोधरा में पत्नी के साथ माँ भी है, किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि मातृत्व सदैव पत्नीत्व के आधीन हुआ करता है – उस पर जयी नहीं हो सकता । इसलिए गुप्तजी ने यशोधरा में उसके पत्नी स्वरुप को प्रधानता दी है । गुप्तजी की यशोधरा की यह छोटी-सी उक्ति-**''मेरे ये विश्वास व्यर्थ यदि उनको खींच न लायें ।''** इसमें उसका आत्मसम्मान भी झलकता है । वर्षो की तपस्या के अमृत तत्व प्राप्त कर वे भगवान् गौतम बुद्ध हो गये हैं । जगत् के कल्याण - साधनार्थ वे फिर से संसार में लौट आते हैं । चलते-चलते कपिलवस्तु के पार्श्ववर्ती मगध-प्रदेश में भी पहुँच जाते हैं । व्यवसायियों द्वारा कपिलवस्तु में भी शीघ्र ही यह समाचार पहुँच जाते है । पूरे मगध राज्य में आनंद की लहर दौड जाती है – लोग हर्षोत्फुल्ल हैं । बुद्ध के मगध लौटने के समाचार मिलते ही कपिलवस्तु के अनेक प्रजाजन दर्शनार्थ तुरन्त मगध चल देते है । प्रजा को ही अपार हर्ष था तो माँ-पिता के आनन्द का क्या ठिकाना ! वे दौड़कर यशोधरा के पास आते हैं और उसे मगध साथ ले जाने के लिए उतावले हैं । लेकिन यशोधरा जाने के लिए तैयार नहीं हैं । वह 'उनका' निदेश पाए बिना घर छोड़ने को प्रस्तुत नहीं हैं ।

''किन्तु तात ! उनका निदेश बिना पाये मैं,
यह घर छोड़ कहाँ और कैसे जाऊँगी ?''(46)

गौतम जहाँ सुप्तावस्था में घर छोड़कर गए थे वे वहीं उसे मिलेंगे । उसका तर्क है कि –

''उनका अभीष्ट मात्र ! ओर कुछ भी नहीं।
हाय अम्ब ! आप मुझे छोड़कर वे गये,
जब उन्हें इष्ट होगा आप आके अथवा
मुझको बुलाके, चरणों में स्थान देंगे वे ।'' (47)

इस तरह यशोधरा गमन के लिए प्रस्तुत नहीं है । महाप्रजापती के पूछने पर कि तूम्हें वहाँ जाने में कौन सी बाधा है तो वह व्यंजन द्वारा अपना आशय - अपनी बाधा स्पष्ट करती है कि –

''बाधा तो यही है, मुझे बाधा नहीं कौई भी !
विघ्न भी यही है, जहाँ जाने से जगत में
कोई मुझे रोक नहीं सकता है - धर्म से,

फिर भी जहाँ मैं, आप इच्छा रहते हुए,
जाने नहीं पाती ! यदि पाती तो कभी यहाँ
बैठी रहती मैं ? छान डालती धरित्री को ।''(48)

यशोधरा यह बात कहते-कहते तीव्र उद्वेग में आ जाती है और मूर्च्छित हो जाती है । यह देख शुद्धोदन यशोधरा से कहते है कि –

''बेटी, उठ, मैं भी तुझे छोड़ नहीं जाऊँगा ।
तेरे अश्रु लेकर ही मुक्ति-मुक्ता छोडूँगा ।
तेरे अर्थ ही तो मुझे उसकी अपेक्षा है !
गोपा - बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको !'' (49)

शुद्धोदन और महाप्रजावती भी मगध जाने का विचार छोड़ देते हैं । 'गोपा - विना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको ! ' कवि ने शुद्धोदन से यह कहलवाकर गर्विणी गोपा की स्वतंत्र सत्ता और पृथक् महत्ता को स्थान दिया है । उनकी यह आर्त पुकार गौतम को कपिलवस्तु खींच ही लाती है । गौतम राजभवन में आते हैं । सभी लोग दर्शन करते हुए प्रवचन सुनते है । पर गर्विणी गोपा अब भी बहार नहीं आती । वह उसी कक्ष में स्थित हैं, जहाँ 'वे' छोड़ गए थे । किन्तु उसका मन बहुत ही उद्वेलित है । क्योंकि आज उसके मन की परीक्षा है । अब तक जो निग्रह था वह तो अभाव के कारण था । – 'लोभ न था, जब लाभ न यह था ।' (50) उस निग्रह की वास्तविक परीक्षा तो आज है । उसका विचलित मन आगे कहता है –

''यदि वे चल आये हैं इतना, तो दो पद उनको है कितना ?
क्या भारी वह, मुझको जितना ? पीठ उन्होंने फेरी ।
रे मन, आज परीक्षा तेरी ।''(51)

यदि गौतम यशोधरा के समीप, उसके कक्ष तक आ जाते हैं तो उसकी लाज रह जाती है । जिसने त्यागा था वही स्वयं अपना ले तो उसकी संपूर्ण तपस्या सफल होती है । और यदि वे स्वयं दर्शन करने चली जाती है तो आज तक के सारे संयम पर पानी फिर जाएगा । सारे कष्ट व्यर्थ हो जाएँगे । यशोधरा के हृदय में इस तरह प्रवृत्ति और विवेक का यही संघर्ष चल रहा है कि इतने में गौतम स्वयं उसके द्वार पर आ जाते हैं और कहते हैं –

''मानिनि, मान तजो लो, रही तुम्हारी बान !
दानिनि, आया स्वयं द्वार पर यह तब तत्रभवान !''(52)

निश्चय ही यशोधरा की 'बान रह जाती है । उसका सारा तप-संयम सार्थक होता है । इस मिलन से

यशोधरा की गौरव-रक्षा के साथ-साथ गौतम की गौरव-वृद्धि भी हुई है । यशोधरा भगवान बुद्ध का स्वागत करती हुई कहती है –

> ''पधारो, भव भव के भगवान !
> ''रख ली मेरी लज्जा तुमने, आओ अत्रभवान !''
> नाथ, विजय है यही तुम्हारी, दिया तुच्छ को गौरव भारी ।
> अपनाई मुझ - सी लघु नारी, होकर महामहान !'' (53)

यहाँ प्रेम की दृढ़ता और एकनिष्ठता पत्नी की जीवन-साधना और उसकी मिलनमय आध्यात्मिक परिणति है । भगवान बुद्ध कहते हैं –

> ''दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
> भूत - दया - मूर्ति वह मन से , शरीर से।''(54)

गौतम अपनी सफलता का श्रेय अपनी पत्नी को देते हुए कहते हैं कि उसके प्रेम ने ही प्रलोभनो से उनकी सदैव रक्षा की है । इस बात से स्पष्ट है कि नर की सफलता के पीछे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से नारी का हाथ अवश्य होता है । गौतम की बातें सुनकर यशोधरा कृतकृत्य हो जाती है । वह अपने पति को राहुल की भेंट प्रदान करती है और स्वयं सद्धर्म में दीक्षित होती है । यशोधरा का प्रेम अंत में बुद्ध-जन्य हो गया है । अर्थात वह आत्म-बोध में परिणत हुआ है । यशोधरा का प्रेम शोक और वात्सल्य में पल्लवित हुआ तथा त्याग और विराग में फलित । इस तरह गुप्तजी ने यशोधरा की तेजस्विता की अद्यात रक्षा की है । यशोधरा ने माता के रुप में राहुल - जननी का कर्तव्य-पालन किया, पत्नी के रुप में पति-वियोग का संताप भोगा , गृहिणी के रुप में निवृत्ति-मार्ग की विगर्हणा की और अखंड नारी के रुप में विनयशील होकर भी वह आत्म-गौरव-पूर्ण रही । बुद्धदेव के सम्मुख भी वह निष्प्रभ नहीं दिखाई पड़ी । नारी गौरव का और उसके प्रेम के सम्मान का यह विशिष्ट आख्यान है ।

संक्षेप्त में समानाधिकार के लिए हलचल मचानेवाली मानिनी यशोधरा शांत स्वभाव के साथ सात्विक एवं पवित्र क्रांति का समावेश हुआ है । उसके हृदय में पति के प्रति लेशमात्र क्षोभ नहीं है । बुद्ध का अपनी अर्द्धांगिनी की महिमा का अज्ञान ही उसे कठोरता की और प्रेरित करता है । यह कठोरता अपने प्रति ही है । भोग-जीवन को त्याग कर योग-जीवन को उसने चुना है । वह जीवन में समान अधिकार एवं समान अवसर प्राप्त करने की लालसा वाली आधुनिक स्वतंत्र नारी का प्रतीक है किन्तु प्रेम और पतिव्रत्य के ज्वलंत आदर्शो की रक्षा वाली नारी में पति के लिए त्याग और तपस्या से पूर्ण मंगला-कामना ही उत्पन्न होती है । उसका यही पवित्र तप, उसके हृदय की यही शील की पावन नीधि, अपनी

सात्विकता की शक्ति से कामाकान्त तपस्वी सिद्धार्थ की रक्षा करती है । पति के प्रति प्रेम का अपमान हुआ है । प्रेम की पवित्रता का गौरव उसके भीतर है । उस प्रेम को दिव्य सम्मान देने के लिए वह मानिनी हुई है। वह प्रेम गर्विता है और इस मान से अपने अहम् की उपासना नहीं करती । उसे अपने हृदय में निवास करनेवाले उज जवल प्रेम में किसी प्रकार का अपमान असह्य है । यशोधरा समझती है कि उसे सिद्धि मार्ग की बाघा जान कर वे सोते हुए छोड़ गए । इसी से उसे पीड़ा होती है । इस मान के कारण ही अमृत लाने वाले पति के सामने वह अपने पानी के स्वरुप की रक्षा करती है और पति को उसके त्यागमय शील के सामने झुकना पड़ता है । इस तरह गुप्तजीने गोपा के चरित्र को प्रस्तुत करके समस्त नारियों को उस आदर्श पथ की ओर अग्रसर करने का प्रयत्न किया है। आधुनिक नारी के लिए एक अपूर्व आदर्श बनने वाली यशोधरा, नारी कुल के लिए सचमुच यश धारण करने वाली बन जाती है ।

द्रौपदी :-

भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठापना करते हुए गुप्तजीने द्रौपदी के चरित्र को जयद्रथ-वध, सैरन्ध्री, युद्ध तथा जय भारत जैसे काव्यों में नवीनता का रुप देने का प्रयत्न किया है । द्रौपदी का जीवन संघर्षमय ज्ञात होता है । पाँच पाण्डवों के साथ जीवन के अन्त तक निर्वाहन करना, ये भी एक जीवन में संघर्ष ही है। गुप्तजी ने द्रौपदी का व्यवहार इतना कुशलता पूर्वक अभिव्यक्त किया है कि उसने ईश्वर की शरण ही नहीं ली, अपितु दुःशासन के मन में भय का संचार भी किया। डा. नगेन्द्रजी ने लिखा है – ''कवि ने न व्यात का समाधान रखा है, न द्रौपदी को नग्न होने दिया है । उसने कौशल से काम लिया है और कथा के युग से अपने युग को संभाला है ।''[55]

द्रौपदी भारतीय परंपरा में प्रतिष्ठित पंच-सतियों में से एक, महाभारतीय कथा की अत्यंत गौरवमयी नारी है । आधुनिक काव्य की द्रौपदी वर्तमान के जागृत नारीत्व का प्रमाण बन गयी है । गुप्तजी ने 'जयभारत' में द्रौपदी पंच-पतित्व - प्रसंग को अवश्य ही समाज की मर्यादा के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने द्रौपदी के पंच-पतित्व को गार्हस्थिक संबंधो की गरिमा से मण्डित कर उसे केवल एक ही पत्नी माना है ।

गुप्तजी ने 'जयभारत' के लक्ष्य-वेध प्रसंग में द्रौपदी के सौन्दर्य का वर्णन किया है । द्रौपदी का सौन्दर्य अप्सराओं से होड़ करनेवाला तथा कामदेव को भी हरानेवाला था । द्रौपदी के स्वयंवर की खबर सुनकर देश-विदेश के राजा उसके अनुपम सौन्दर्य पर मुग्ध होकर ही पधारे थे । द्रुपद की स्वयंवर सभा में उपस्थित द्रौपदी के सौन्दर्य का वर्णन गुप्तजी ने इस तरह किया है –

''शशि कला सदृश थी द्रुपदसुता ।

किंवा नृप-कुसुमों की क्यारी, रखती विचित्रता थी न्यारी ।
सबकी भौंरी-सी एक वही, सबमें निज गुण से गूँज रही ।''(56)

स्वयंवर में आमंत्रित सब नृपगण उसके रुप की आभा देखकर अवाक् से रह गये थे । द्रौपदी के उत्कृष्ट पातिव्रत्य का चित्रण हुआ है । द्रौपदी के पंच पतित्व प्रसंग को सामाजिक मर्यादा के अनुसार ग्रार्हस्थिक संबंधो की गरिमा से मण्डित कर केवल एक ही पत्नी माना है । जयभारत के लक्ष्य-वेध प्रसंग में लिखा है –

''बोले धर्मात्मज धृतिशाली, वर पार्थ बधू है पांचाली ।
दो वरज्येष्ठ का पद पावें, दो देवरत्व पर बलि जावें ।
भोगें यों पाँचो सुख इसका, ताकें सदैव शुभ मुख इसका ।''(57)

युधिष्ठिर के इस कथानुसार पाँचो पाण्डवों ने द्रौपदी का सुख ग्रहण किया । युधिष्ठिर और भीम ने जेष्ठ के रुप में, नकुल-सहदेव ने देवर के रुप में तथा अर्जुन ने पति रुप में । किन्तु कवि अपनी इस विचारधारा का पल्लवन आद्योपति नहीं कर सका है । उन्होंने कई स्थानों पर द्रौपदी को पाँचो पाण्डवों की भार्या माना है । 'लक्ष्यवेध' शीर्षक में ही कवि ने कुन्ती से कहलाया है –

''हो चाहै पंच-पुरुष-भार्या, तू आर्याओं की भी आर्या ।''(58)

यहाँ नारी रुप में तो उसकी श्रेष्ठता, सतीत्व की स्वीकृति होती है, किन्तु साथ ही द्रौपदी पाँचो-पाण्डवों की भार्या भी मानी गयी हैं । आगे चलकर 'वनवास' प्रसंग में भी द्रौपदी को पंच-पाण्डवों की भार्या ही माना गया है । पाँचो पाण्डवों के मध्य यह एक समझौता अथवा शर्त सी है कि जब द्रौपदी किसी एक के साथ एकांत में हो तो अन्य कोई भाई वहाँ नहीं जाएगा । इस शर्त के उल्लंघन पर दोषी व्यक्ति को बारह-वर्ष वन में व्यतीत करने होंगे ।

''रहे एक के साथ द्रौपदी जब जहाँ,
जाय अवधि भर तब न अन्य भ्राता वहाँ ।
जावे तो वनवास वर्ष बारह सहे, ''(59)

अर्जून भूल से दैव-संयोग-वश एक बार उसी कक्ष में चले गये जहाँ युधिष्ठिर द्रौपदी के साथ एकांत में थे । युधिष्ठिर के मना करने पर भी अर्जुन पंच-पतित्व की मर्यादा रखने के लिए स्वेच्छा से वनवास के लिए जाते हैं । इस प्रसंग से भी स्पष्ट है कि गुप्तजी ने द्रौपदी के पंच-पतीत्व को, गार्हस्थिक सम्बंधो के आधार पर, सामाजिक मर्यादा तो प्रदान की पर सर्वत्र नहीं कर सके हैं ।

''नारी पर कब कहाँ दैव की द्दष्टि हुई ? मेरी तो अपमान - हेतु ही सृष्टि हुई !

पाकर ऐसे नाथ अन्यथा मैं अबला, नर पशुओं की हुई हाय क्यों कर कवला ।''(60)

'जयभारत' के 'वन-गमन' सर्ग में पाण्डवों के वनगमन के समय द्रौपदी अपने पुत्रों का भार सपत्नी सुभद्रा को सौपती है उसका पुत्र वात्सल्य निम्नपंक्तियों में द्रष्टव्य है –

''मेरे पाँचो पुत्र समर्पित हैं तुझको ।
जाते ही तू बला लीजियो वहीं उन्हें,
पर न प्यार ही प्यार कीजियो कहीं उन्हें !''(61)

यहाँ द्रौपदी बच्चों को प्यार करने के साथ-साथ अनुशासनप्रिय बनाने का संकेत देती है, जिसमें उनकी जिम्मेदारी की भावना व्यक्त हुई है । गुप्तजी ने नारी-पात्रों के प्रति अधिक सहृदयता दर्शायी है । गृहिणी के रुप में उसे संपूज्य और श्रद्धेय माना है ।

''बाहर चूर चूर होकर नर बहुधा घर आता है,
माटी का मुख वहाँ निरख वह फिर नवता पाता है ।''(62)

'द्रौपदी और सत्यभामा' सर्ग में पतिपरायणता आदर्श नारी का महत्व समझाती है । द्रौपदी नारी के उत्तरदायित्व से परिचित कराती है कि, बाहर श्रम से चूर-चूर होकर आनेवाला पुरुष नारी का मुख देखकर नवता पाता है अतः पत्नी को सार्थक गृहिणी की भूमिका अदा करनी चाहिए । इस तरह जयभारत की द्रौपदी नारी के शील और कर्तव्य को महत्व देती है । नारी का कर्तव्य त्याग-पूर्ण जीवन में है । इसके साथ सुखी दाम्पत्यजीवन के पीछे नारी का बड़ा हाथ है । द्रौपदी आदर्शनारी के गुणों को व्यंजित करती हुई कहती है कि पति प्रेम पर एकाधिकार करना है तो उसे घर में रहकर अपनी साजसज्जा पर भी ध्यान देना चाहिए ।

''घर के वर के लिए वधू का साजबाज है सारा ।
दास-दासियाँ दिखलाते हैं कोरी प्रभुता जन की,
सखि, सच्ची सँभाल हमको ही करनी है निज धन की ।''(63)

द्रौपदी आगे कहती है कि पत्नी रुप में नारी की सार्थकता लेने में नहीं, अपितु देने में हैं । द्रौपदी के चरित्र के गुण उसके व्यवहार में पूर्ण रुप से विद्यमान हैं । 'जयभारत' में वह नारी के कर्तव्यों की प्रतीक बनकर उपस्थित होती है । नारी का उत्तरदायित्व समझाते हुए वह कहती है –

''नारी लेने नहीं, लोक में देने ही आती है,
अश्रु शेष रखकर वह उनसे प्रभु-पद धो जाती है ।''(64)

गुप्तजी ने जयभारत में नारी के कर्तव्य के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है । नारीत्व की चरम परिणति उन्होंने

सेवा, समर्पण, प्रेम, त्याग और ममत्व में मानी है । उसके तप-त्याग की झांकी द्रौपदी ने प्रस्तुत की है । गुप्तजीने द्रौपदी को सेवापरायण गृहिणी तथा कर्तव्यदक्ष नारी रुप में चित्रित किया है । द्रौपदी अपने गृहस्थ जीवन में गृहिणी के साथ मूल्यों और मर्यादाओं तथा कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक निर्वाह करती है । वह आदर्श नारी के उत्तरदायित्व से भली-भाँति सुपरिचित है । ''वन-वैभव' सर्ग में संकट के समय द्रौपदी जो महारानी है वन में स्वयं पानी तक भरती है । वह अपने हाथों से कार्य करने में लज्जा का लेशमात्र भी अनुभव नहीं करती । द्रौपदी सच्ची गृह लक्ष्मी है । विनम्रता उनके स्वभाव में भी फूट-फूट कर भरी हुई है । सदगृहिणी के सभी गुणों से वे विभूषिता है ।

''कि जो थी कभी महारानी, स्वयं अब भरती है पानी,
किन्तु है मन में मान वही, आन हो कि न हो, बान नहीं ।''(65)

द्रौपदी अपने पतियों तथा अतिथियों की सेवा, सत्कार में संलग्न गृहिणी के साथ क्षत्रियों की भार्या का फर्ज भी अदा करती है –

''सती पति-सेवा करती है , अतिथियों का श्रम करती है ,
भव्य भावों को भरती है , धर्म अपना आचरती है,
किन्तु होकर क्षत्रिय भार्या, दुःख भूले क्या वह आर्या ।''(66)

द्रौपदी पाँच पतियों के प्रति पतिव्रत्य धर्म का निर्वाह करती है । 'जयद्रथ-' सर्ग में उसका दृढ़ पातिव्रत्य देखा जा सकता है । कीचक से त्रस्त होने पर उसके इस विश्वास को अत्यंत शक्तिशाली शब्दों में गुप्तजी ने चित्रित किया है कि –

''मेरे प्रभु रखते हैं अब भी मुझे बनाकर रानी ।
अपने को मुझको भी हारे, धर्म नहीं वे हारे,
पंचतत्वमय इस तनु के प्राणों से भी प्यारे ।''(67)

उसका स्वाभिमान दर्शनीय है । जयद्रथ पाण्डवों की असहायता बताकर द्रौपदी को वश में करना चाहता है, परन्तु द्रौपदी को अपने पतियों की शक्ति पर पूर्ण विश्वास है इसलिए उसे तिरस्कृत करती है –

''सावधान, मैं सुन न सकूंगी बात और अब आधी,
अपनी चिन्ता करो, न हो तुम औरों के अपराधी ।
नर ही अपराधी होता है, निरपराध है नारी ।''(68)

द्रौपदी के तेजस्वी रुप को अभिव्यक्त किया है । द्रौपदी के चरित्र के माध्यम से गुप्तजी नारियों के सतीत्व, पातिव्रत एवं अनन्य निष्ठा का आदर करते है और आधुनिक युग में उसी आदर्श को अपनाने की प्रेरणा देते हैं । द्रौपदी आपत्ति के समय भी द्रढ़ता एवं साहस से कार्य करती है । उसे अपने सतीत्व पर विश्वास

है और यही भावना उसकी शक्ति का आधार है । द्रौपदी का इतना व्यंग्य करने पर भी जयद्रथ दोनों हाथ उसकी ओर बढ़ाता है तब द्रौपदी उसे फटकारती हुई कहती है कि –

''ठहर अनार्य दस्यु तू मेरा नहीं, मृत्यु का कामी,''(69)

द्रौपदी वज्र से भी कठोर और पुष्प से भी कोमल दिखाई देती है । वह दास प्रथा का विरोध करती हुई मानवतावाद पर विश्वास रखती है । इसलिए जयद्रथ को मृत्युदण्ड देने के बजाय क्षमा भी करने को कहती है । जयद्रथ को दण्ड मिले ही इसके लिए वह हठ नहीं करती ।

''भीम एक अवसर दो इसको, तुम निज शेष पचा दो,
एक बार दुःशला बहन के कारण इसे बचा दो ।
जाय जयद्रथ, नहीं किसी को दास बनाते हैं हम,
अपनी-सी सबकी स्वतन्त्रता सदा मनाते हैं हम ।''(70)

गुप्तजी ने स्त्री की शारीरिक दुर्बलता के साथ उसके आंतरिक सतीत्व बल को महान चरित्र के गुण-रुप में चित्रित किया है । यहाँ पर कवि ने कीचक वध के स्थल पर उसकी सहृदयता का चित्रण कर नारी के शाश्वत स्वरुप की झांकी प्रस्तुत की है । इस तरह राजमहलों में निवास करनेवाली द्रौपदी पाण्डवों के साथ वन की यातनाएँ सहन करती फिरी । कठोर वनवास के समय भी वह धैर्य नहीं खोती । वस्तुतः द्रौपदी के चरित्र में सहनशीलता के साथ कोमलता एवं दयालुता के भी दर्शन होते है । 'सैरन्ध्री' सर्ग में कीचक एक दिन द्रौपदी से कहता है कि तू किस भाग्यशील की भार्या है । देखने में दासी है पर गुणों से आर्या लगती है । मैं कब तक विरह जन्य सन्ताप से तड़पता रहूँगा । कीचक से त्रस्त होने पर उसका संपूर्ण विश्वास प्रचण्ड उग्ररुप धारण कर कहता है –

''सावधान हे वीर, न ऐसे वचन कहो तुम,
मन को रोको और संयमी बने रहो तुम ।
मेरा भी है धर्म उसे क्या खो सकती हूँ ?
अबला भी चंचला कहाँ मैं हो सकती हूँ ?
मैं दीन-हीना हूँ सही, किन्तु लोभ लीना नहीं ,
करके कुकर्म संसार में मुझको है जीना नहीं ।''(71)

आगे अपनी प्रतिनिष्ठा इस तरह व्यक्त करती है –

''मेरे प्रभु हैं पाँच देव प्रच्छन्न निवासी,

तन-मन-धन से सदा उन्हीं की हूँ मैं दासी ।''[72]

गुप्तजीने द्रौपदी के चरित्र की इस विशेषता को परंपरानुसार अभिव्यक्ति दी है । द्रौपदी के चरित्र द्वारा कवि ने नारी के सतीत्व एवं शील पर प्रकाश डाला है । कवि की धारणा यह है कि नारी में अत्याचारों का सामना करने की शक्ति होनी चाहिए ।

'जयभारत' की सैरन्ध्री मलिन वसना के रुप में भी हृदय को मोहित करनेवाली चन्द्रकला है । उसका सौन्दर्य शैवाल में कमल-कली के समान सुन्दर प्रतीत होता है । कीचक के साथ वार्तालाप में कवि ने स्वयं द्रौपदी के मुँह से कहलवाया है कि वह केवल अबला बनकर वह अपने अपमान की रक्षा नहीं कर सकती । दानवी प्रवृत्तियों के लिए वह साक्षात् चंडिका ही बन जाती है । भस्माव गुंठित अग्नि की दीप्ति हो आलोकित वाल्मीकि को सीता की तरह, वह सुन्दर-राशि-सुधा स्वरुप के साथ पापरुपी राहू को कल्मषको चुनौती देनेवाली वामा के बाहुबल को दिखाने के लिए सचेत हो जाती है । जयद्रथ द्वारा द्रौपदी हरण के समय इस तथ्य की पुष्टि होती है । -

''मैं अबला हूँ, किन्तु न अत्याचार सहूँगी,
तुझ दानव के लिए चंडिका बनी रहूँगी ।
मत समझ मुझे तू राशि - सुधा शल, निज कल्मष राहु की,
मैं सिद्ध करूँगी पाशता अपने वामा बाहु की ।''[73]

द्रौपदीने जीवन में बहुत अपमान और दुःख सहे है । दुःशासन ने भरी सभा में उनके केश खींचे, जयद्रथ ने उन्हें अकेली पा प्रेम का प्रस्ताव किया और कीचक ने उनको लात मारी । अपने अपना ध्यान कर कभी -कभी अपने वीर पतियों के प्रति वे व्यंग्यमयी हो उठतीं है । पर फिर स्वयं पछताने लगती थी । अपने पत्नीत्व को उन्होंने सदैव विवेक की दृष्टि से देखा । उनका कहना था कि पुरुषों से जो बहु-विवाह की प्रथा प्रचलित है, उसका सारा बदला उन्होंने ले लिया है । द्रौपदी अपने स्वाभिमान एवं सतीत्व की रक्षा करती हुई, विराट की सभा में जाकर आत्मरक्षा के लिए आवाहन हीं नहीं करती, अपितु राजा को स्त्री की रक्षा के लिए लताड़ती है ।

''भय पाती है जहाँ राजगृह में ही नारी,
होता अत्याचार यथा उस पर है भारी ।''[74]

कीचक ने भरी सभा में द्रौपदी को अपमानित किया है । इस राजनीतिक दुरवस्था देखकर द्रौपदी राजसभा में राजा को ही चुनौती देती हुई राजा विराट से कहती है कि जिस राजगृह में एक नारी की कोई सुरक्षा

नहीं है तो ऐसे दुर्बल तथा हतबल राजा को सत्ता पर बने रहने का कोई अधिकार नहीं है ।

''छोड़ धर्म की रीति, तोड़ मर्यादा सारी,
भरी सभा में लात मुझे कीचक ने मारी ।
उसका यह अन्याय देख कर भी भयदायी ।
न्यायासन पर मौन रहे तुम बनकर न्यायी ।''(75)

यहाँ राज सत्ता के दुरुपयोग करने वाले राजा के अधिकारों को जन सामान्य द्वारा चुनौती दी गयी है । द्रौपदी भरी सभा में राजा विराट को चुनौती देती है –

''तुममें यदि सामर्थ्य नहीं है अब शासन का,
तो क्यों करते नहीं त्याग तुम राजासन का ?
करने में यदि दमन दुर्जनों का डरते हों,
तो छूकर क्यों राजदंड दूषित करते हो ?
तुमसे निज पद का स्वांग भी भली भाँति चलता नहीं,
अधिकार-रहित इस छत्र का भार तुम्हें खलता नहीं ।''(76)

यहाँ राजा के अधिकारों का एक दासी द्वारा चुनौती देना वर्तमान युग की जनतंत्रीय भावना का प्रतीक है । वस्तुतः द्रौपदी के इस व्यवहार के समय वह व्रज से भी कठोर प्रतीक होती है किन्तु जब भीम द्वारा कीचक का वध होता है उसे देखकर उसके हृदय में करुणा की भावना व्यक्त होती है । गुप्तजीने इस स्थल पर उसकी सहृदयता का चित्रण किया है । द्रौपदी कीचक वध पर दुःखी होती है।

''देख भीम का भीम कर्म भीमाकृति भारी,
स्वयं द्रौपदी सहम गई भय-वश सुकुमारी।
कीचक के भी लिए खेद उसको हो आया,
कहाँ जाय वह सदय हृदय की ममता माय?''(77)

'जयभारत' में 'केशो की कथा' सर्ग में सैरन्ध्री की दयनीय अभिव्यक्ति हुई है ; पर साहसिक बन कर कहती है कि अपने अमर पति की केवल दासी मात्र नहीं, मंत्रिणी भी है । अपने केश को वाम कर में ले कर उसे अश्रु जल से खींचकर हृदयस्थ दक्षिण हाथ में रख शरविद्ध हरिणी की तरह वह मानिनी अपने हृदय की हुंकार को व्यक्त करती है । उसके कृष्ट केशों की कथा से चिन्तित और व्यथा से पीड़ित पाण्डवों के प्रतिशोध ले कर शांत होने पर उसे शान्ति मिल सकती है । बाधा से पीड़ित और विकृत हुई सैरन्ध्री मुख

मुँद कर निर्झारिणी-सी, अश्रुधारा से प्रभुचरण धोने लगी है। दूसरे अश्वत्थामा को दण्ड देने के प्रसंग में भी वह अपने पतियों को मानवता का स्मरण रखने का सुझाव देती है ।

''मैं क्या उसका मुख देख सकूंगी ?'' उसे यहाँ मत लाना,
वह भूला अपना मनुष्यत्व, तुम अपने को न भुलाना ।''(78)

''स्वर्गारोहण'' सर्ग में भी इनकी पतिभक्ति व्यक्त हुई है । यहाँ पंचत्व प्राप्त करने के बाद न्यारे-न्यारे तुल्य रुप रखकर एकात्मा से अपने पतियों की उपासना करने की अभिलाषा व्यक्त करती है । द्रौपदी को अपने सतीत्व पर पूर्ण आस्था है ।

''यह - यही एक इच्छा मेरी -पंचत्व प्राप्त करके प्यारे !
मैं एकात्मा से भजूँ तुम्हें, रख तुल्य रुप न्यारे - न्यारे ।''(79)

इस प्रकार 'जयभारत' में द्रौपदी को करुण कृन्दन करते हुए दिखाया गया है । वह असहायवस्था में दुःशासन को धिक्कारती हुई उसके मन में पाप का भय जागृत कर देती है । द्रौपदी की आर्तवाणी में दुःशासन नीतिमान होकर चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार देखता है और अन्ततः स्तंभित होकर बैठ जाता है । इस काव्य में गुप्तजी ने नारी जीवन की अनेक समस्याओं की ओर संकेत किया है । समाज में 'नारी के प्रमुख स्थान' की समस्या है । गुप्तजीने नारी के मंगलमय गृहिणी रुप को प्रमुखता दी है । सत्यभामा और द्रौपदी संवाद इसका साक्षी है। इस काव्य की द्रौपदी में आदर्श नारी के गुण है । सांस्कृतिक आंदोलनों एवं गांधीजी के नारी उद्धार के प्रभाव स्वरुप गुप्तजी का नारी के प्रति एक स्वस्थ एवं संतुलित द्रष्टिकोण रहा है ।

निष्कर्ष है कि 'जयभारत' में द्रौपदी का चरित्र परम्परानुसार अपनाया गया है । यहाँ वह दिव्या, पति परायणा तथा पतिव्रता, परिश्रमशील, गृहिणी, मानिनी, आदर्श नारी आदि रुपों में प्रस्तुत है। किन्तु कहीं - कहीं 'गांधीवाद' और 'नारी जागरण' जैसी युगीन परिस्थितियों का प्रभाव उनके चरित्र पर परिलक्षित होता है ।

गुप्तजी का 'सैरन्ध्री' नाम का खण्डकाव्य में भी जयद्रथ एकान्त में प्रणय प्रस्ताव निवेदित करता है उस समय द्रौपदी अत्यधिक समय सूचकता से इस प्रसंग का निर्वाहन कर लेती है । यही संघर्ष उसमें धैर्य का निर्माण करता है । सैरन्ध्री छद्म नामधारिणी द्रौपदी रानी की सेविका का कार्य करती है । जहाँ पाण्डवद्युत में निश्चित नियमानुसार राजा विराट के यहाँ अज्ञातवास का समय व्यतीत करते है । उस समय रानी का भाई कीचक सैरन्ध्री के सौन्दर्य की ओर मुग्ध हो जाता है । यह जानते हुए भी कि यह

'पंचगन्र्धवों' की पत्नी है वह कामासक्ति के मार्ग से पीछे नहीं हटता । सैरन्ध्री द्वारा रानी के समक्ष विनंती करने पर रानी भी कीचक का पक्ष लेती है । कीचक के अनाचार करने पर सैरन्ध्री उसे सावधान रहने के लिए चेतावनी देती है । अतः भीम सैरन्ध्री के रुप में एक दिन रात को कीचक को बुलाकर मार देते हैं । काम की अधिकता को अव्यवहारिक और हानिकारक बताते हुए कवि कीचक-वध का चित्रण करते है । सतीत्व की रक्षा और धर्म निष्ठा का उत्कर्ष दिखाकर पाप-वृत्ति का विनाश निरुपित किया है । द्रौपदी अपने धैर्य एवं कुशलता से कौरवपक्ष को भी परास्त कर देती है । उसके चरित्र की विशेषता यह है कि अत्यधिक कठिन समय आने पर द्रौपदी रण-चण्डिका रुप धारण कर लेती है वही द्रौपदी पुत्रवात्सल्य से अधिकतम विह्वल होकर रोने भी लगती है । इस तरह वह एक धीरवती एवं शीलवती द्रौपदी वत्सलता से परिपूर्ण है । द्रौपदी का पुत्र वात्सल्य तब सामने आता है जब सुभद्रा अभिमन्यु की एक -एक बात स्मरण कर शोकमग्न हो जाती है उस दृश्य को देखकर उसका पुत्र वात्सल्य जागृत होता है । यहाँ उसके कोमल हृदय का परिचय मिलता है ।

निष्कर्ष यह है कि 'सैरन्ध्री' नामक काव्य में द्रौपदी के चरित्र में वत्सलता, कठोरता, मृदुता, सहनशीलता एवं कर्तव्यनिष्ठता आदि गुण स्पष्ट रुप में दीख पड़ते है । वह अपने कर्तव्यों का निर्वाहन करने का प्रयत्न करती है परन्तु उसमें भावुकता अधिक मात्रा में होने के कारण उसको सफलता मिलने में विलम्ब होता जाता है । परिस्थिति के अनुसार वह अपने को ढालने का प्रयत्न अवश्य करती है परन्तु उसमें रुढिप्रियता होने के कारण उसको पूर्ण रुपेण सफलता नहीं प्राप्त हो सकती । उसमें तर्कशक्ति एवं अनुभूति का सुन्दर समन्वय हुआ ज्ञात होता है और इसीलिए ही वह अपनी प्रतिष्ठा बनाए रखने में समर्थ हुई है ।

हिडिम्बा :-

राष्ट्रकवि मै. गुप्त प्रणीत 'हिडिम्बा' खण्ड काव्य महाभारत के आदिपर्व की प्रासंगिक कथा पर आघृत है । इसकी कथा भले ही महाभारत से ली गई हो लेकिन प्रतिपादन शैली मौलिक है । हिडिम्बा के चरित्र को परिष्कृत रुप में प्रस्तुत किया गया है । गुप्तजी ने महाभारत की इस अपेक्षित दानवी को सर्वप्रथम 'हिडिम्बा' खण्डकाव्य में स्थान देकर उसे नायिका के पद पर प्रतिष्ठित किया है । बाद में 'जयभारत' के ग्यारहवें सर्ग के रुप में 'हिडिम्बा' का अंश सम्मिलित किया गया । कवि ने नारी जाति के आदर्श, आर्यत्व की स्थापना, समसामयिक विचारधारा और अंर्तजातीय विवाह को आधार बनाया है । गुप्तजीने उपेक्षित हिडिम्बा को नायिका का दर्जा देकर उसके चरित्र का उन्नयन किया है ।

'हिडिम्बा' काव्य की 'हिडिम्बा' मुग्धा नायिका है । उसका प्रेम स्वाभाविक रुप से व्यक्त

हुआ है । यह इन्द्रियभोग की इच्छूक न होकर पारिवारिक स्नेह, समर्पण, त्याग और प्रेम की मूर्ति है । भीम वनमें पिपासाकुल माता कुंती और बंधुओं को छोड़कर उनके लिए पानी लेने गए है । सरोवर के निकट नूपुरों की संकार सुनकर वह चमकते है और देखा तो सामने हिडिम्बा खड़ी है । भीम उसके अनुपम सौन्दर्य से प्रभावित होते है –

''दीख पड़ी सुन्दरी समक्ष एक उनको ।
उत्थित वसुन्धरा से रत्नों की शलाका थी,
किंवा अवतीर्ण हुई मूर्तिमयी राका थी ।(80)

भीम हारे-थाके हुए हैं फिर भी विनय के साथ उससे पूछते हैं कि ''देवि, कौन हे तू यहाँ ?'' हिडिम्बा भी विनयशीला तथा सुसंस्कार संपन्न है । भीम के मुख से अपने लिए 'देवी' शब्द सुनकर वह अपने को सम्मानित मानती है । वह सत्यवादी है इसलिए कहती है कि वह 'देवी' नहीं 'राक्षसी' है –यथा–

''धन्यवाद ! देवी पद दान किया तुमने,
वस्तुतः मैं राक्षसी हूँ, मान दिया तुमने ।''(81)

उसे अपनी सत्यवादिता पर गर्व है इसलिए वह निःसंकोच होकर अपने को राक्षसी कहती है । गुप्तजी की मनोवैज्ञानिकता है कि किसी भी मनुष्य को उसके दोष या अवगुण प्रत्यक्ष दिखाने से वह क्रोधित होता है यदि उसके विरुद्ध कहा जाय तो वह अपने वास्तविक रुप को तुरन्त स्वीकार कर लेता है । ऐसे ही राक्षसी हिडिम्बा को भीम देवी कहते है तो स्वयं हिडिम्बा अपने को राक्षसी स्वीकार करती है । भीम कहता है किय यदि राक्षसी का ऐसा रुप होता है तो मेरी जो राक्षसों के प्रति भ्रान्त धारणा थी वह गलत है । हिडिम्बा अपने रुप सौन्दर्य से वह भीम को अपनी ओर आकृष्ट करती है । भीम को उसका वन में विचरना ठीक नहीं लगता, क्योंकि उसका सौन्दर्य दीवा को भी दीप्त करने वाला है । भीम के प्रशंसा भरे वचन सुनकर कृतज्ञता होकर कहती है –

''मानती हूँ उसको गुणज्ञता तुम्हारी मैं,
दुगनी कृतज्ञ हुई बलि, बलिहारी मैं !''(82)

भीम के मूँह से देवी कहनेवाले प्रियतम को 'देव' कहना नहीं भूलती । हिडिम्बा आर्यनारी की भाँति अपने हृदय के भावों को भीम के समक्ष रखती है –

''देवी ही सही मैं, तब मेरे देव तुम हो,

कामलता हूँ मैं, तूम्ही मेरे कल्पद्रुम हो ।''[83]

वह कहती है कि जो नारी को देवी जानता है वह उसी को मान भी देता है । वह आगे कहती है कि मेरे भाई हिडिम्ब ने मनुष्य-गंध पाकर मुझे भेजा है और मैं तूम्हें मारने आई थी लेकिन तूम्हें देखकर मेरे हृदय में प्रेम जागा है । अब तूम्हें मारने के बजाय बचाऊँगी । इस तरह वह अपने पूर्ण मनोरथ को प्रकट करती है । गुप्तजी का उपेक्षित नारी पात्रों में हिडिम्बा के वर्णन के पीछे उपेक्षित बाह्य नारियों की ओर समाज का ध्यान आकृष्ट करने का भाव है । हिडिम्बा के राक्षसत्व को धोकर कवि ने नारी-जाति में समता स्थापित करने का प्रयास किया है । भीम-हिडिम्बा के संवाद में मानवीय मूल्यों की सुंदर व्याख्या हुई है । हिडिम्बा का प्रेम स्वार्थभाव से उपर उठा है । वह भीम को अपना अतिथि समझकर उसकी सेवा में तत्पर होती है, लेकिन उसका भाई हिडिम्ब उसके प्रेम का विरोध करता है । तब साहस के साथ क्रोधित भाई को अपना निर्णय सुनाती है –'सावधान, मैं वर चुकी हूँ उसे मन में ।'[84] हिडिम्ब उसके कर्म को कुल का कलंक मानकर मारने को उद्यत होता है तब वह मरने को भी तैयार होकर कहती है 'आगे मुझे मार'[85] यहाँ हिडिम्बा का यह कथन उसके आदर्श प्रेम को स्पष्ट करता है । भीम और हिडिम्ब के बीच में युद्ध होता है परन्तु भीम हिडिम्ब को मृत्युलोक भेज देता है । मरते समय हिडिम्ब अपनी बहन को आशीर्वाद देते हुए स्वीकार करता है कि –'बहन, सुखी हो, वर तू ने योग्य ही चुना ।'[86] अपने भाई की मृत्यु देखकर बिलख उठती है । उसके मुख से 'हाय' निकल जाती है ।

''हाय भैया ! किसने तुम्हारी रीढ़ तोड़ दी ?
खींची अनुजा ने साँस अग्रज ने छोड़ दी ।''[87]

बाद में हिडिम्बा भी अपने प्रेमी के हाथों भी मरने को तैयार हो जाती है । वह कहती है –

''प्रस्तुत मैं, प्यार किया मैंने जिसे एक बार,
उसके करों से मरना भी मुझे अंगीकार ।''[88]

युधिष्ठिर कहता है कि तू हमारे सारे भेद जान गई है इसलिए तूझे कैसे निवारें ? 'वैरी की बहन भी तू स्त्री है, त्राण हो तेरा'[89] तभी हिडिम्बा कहती है कि – जिस किसी के साथ भी प्रेम और वेर होता है उससे हम सीधे ही साध लेते हैं । किसी ओर व्यक्ति के साथ मिलकर काम नहीं करते । इसलिए हिडिम्बा युधिष्ठिर को विश्वास दिलाती हुई अपना मंतव्य देती है कि –

''आर्य शंका मुझसें करें न किसी बात की,
हममें प्रवृत्ति नहीं ऐसे धृव्य घात की ।''[90]

हिडिम्बा का चरित्र अत्यंत उच च धरातल पर प्रस्तुत है । गुप्तजी ने गांधीवादी विचारधारा

के संस्पर्श के कारण उसके चरित्र में युगानुरुपता प्रदान की है । इसी कारण गुप्तजी की हिडिम्बा अनार्य होकर आर्य और राक्षसी न होकर वैष्णवी है ।(91) गुप्तजी ने हिडिम्बा के चरित्र में आर्यत्व एवं स्त्रीयोचित गुणों का समावेश किया है । उसमें पतिव्रत धर्म एवं ममता के दर्शन भी होते हैं । हिडिम्बा को राक्षसी के स्तर से उठाकर वैष्णवी-मानवी के रुप में चित्रित किया है । वह अपनी दानवी प्रवृत्तियोंको त्यागकर मानवीय विशेषताओं को ग्रहण करती है । गुप्तजी ने हिडिम्बा के चरित्र के द्वारा आर्य-अनार्य के बीच की दूरी, मानव और राक्षस जातियों के परस्पर मिलन, हिडिम्बा के अद्‌भूत, सर्वस्व न्योछावर करने वाले प्रेम आदि का वर्णन किया है । वह यहाँ भी एक महान् नारी है । युधिष्ठिर हिडिम्बा का चरित्र का आख्यान इन शब्दों में कहते हैं -|

''आई यातु-वंश में हिडिम्बा किसी भूल से,
वैसे सुसंस्कार वह रखती है मूल से ।
स्त्री का गुण रुप में है और कुल शील में ,
पद्मिनी की पंकजता इबे किसी झील में ।''(92)

भाई की मृत्यु के बाद हिडिम्बा अपने कर्तव्य का पालन करती है । आर्य धर्म के अनुसार वह हिडिम्ब की अन्त्येष्टि क्रिया करती है । हिडिम्बा अपना प्रेम केवल भीम तक ही सीमित नहीं रखती, अपितु अपनी सास तथा सम्बन्धियों से भी आत्मीयता रखती है । पाण्डवों के निवास की व्यवस्था कर कुंती से आज्ञा लेकर वह तीन दिन शोक मनाने के लिए चली जाती है । तीन दिन बाद आकर वह कुंती से निवेदन करती है -|

''अम्ब, आ गई मैं सब बन्धनों को तोड़ के,
जैसे नदी जाय निज जन्मभूमि छोड़ के ।''(93)

हिडिम्बा यहाँ एक आदर्श प्रेमिका के रुप में अवतरित हुई है, जिसमें त्याग भावना के साथ निस्वार्थता भी है । हिडिम्बा कहती है मैं स्वयं भी संग चलने को ही आई हूँ ? मैं स्वीकार करती हूँ कि मुझमें सहनशीलता का अभाव है किन्तु मेरा दोष क्षमा योग्य है क्योंकि हम नागर न होकर जन्म से ही वन्य रहे हैं । फिर भी श्रेष्ठ गुण और शील दोनों आत्मजन्य है । हिडिम्बा अत्यंत चतुराई से भीम के ऊपर अपना भार छोड़ती है ।

'' न्याय से उन्हीं पर न भार मेरा सारा है ||
रक्षक जिन्होंने एक मात्र मेरा मारा है ।''(94)

एक मात्र रक्षक जाने पर हिडिम्बा अत्यधिक दुःखी होती है और कुंती से सहानुभूति की अपेक्षा रखती है ।

वह सहृदया नारी बनकर उपस्थित हुई है । हिडिम्बा का जन्म भले ही राक्षस कुल में हुआ हो, पर उसका त्याग और पतिव्रत आर्य तुलनाओं से कम नहीं है । वह प्रगतिशील नारी है । इसलिए मानवी गुणों के आधार पर मानव को स्वीकार करने की प्रवृत्ति को प्रधानता देती है । इसलिए कहती है कि –

''वैर की यथार्थ शुद्धि वैर नहीं, प्रेम है,
और इस विश्व का इसी में छिपा क्षेम है ।''(952)

कवि ने हिडिम्बा को प्रगतिशील नारी के रुप में चित्रित किया है । हिडिम्बा के मन से मानव तभी सफल है, जब वह दानव का उद्धार करें इसलिए वह राक्षसत्व को परित्याग कर आर्यत्व की कामना करती है ।

''यदि तुम आर्य हो तो दो हमें भी आर्यता ,
अपनी ही उच्चता में कैसी कृत कार्यता ।''
और, राक्षसी भी क्या असुन्दरी मैं वैसी हूँ ?
सम्मुख उपस्थित हूँ, खोटी खरी जैसी हूँ ।''(96)

हिडिम्बा एक संस्कारशीला, मानिनी, आदर्श प्रेमिका, संवेदनशील, भावुक रमणी, बुद्धिमती एवं प्रगतिशील नारी के रुप में चित्रित हुई है । गुप्तजी ने उसके चरित्र द्वारा आर्य-अनार्य के बीच की दूरी, मानव और राक्षस जातियों के परस्पर मिलन, सर्वस्व न्योछावर करने की प्रवृत्ति और आदर्शप्रेम को अभिव्यक्त किया है । कुन्ती और हिडिम्बा के संवाद बौद्धिक चेतना तथा सामाजिक भावनाओं के अनुकूल हैं । हिडिम्बा आज की बुद्धिवादी नारी है । आर्य-अनार्य दोनों यदि एक दूसरे की प्रवृत्तियों को समझ लें तो दोनों में परस्पर सुधार हो सकता है । इसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार है कि –

''प्राणी मात्र सहज प्रवृत्तियों में एक से, राक्षस भी चलते हैं अपने विवेक से ।''

× × × × ×

''तुम भी डरावने-से बनते हो डाह में, हम भी सुचारु रुप रखते हैं चाह में ।''

× × × × ×

''होकर मैं राक्षसी भी अन्त में तो नारी हूँ, जन्म से मैं जो भी रहूँ, जाति से तुम्हारी हूँ ।''

× × × × ×

''भार नहीं हूँगी मैं तुम्हारे भीम के लिए, विचरूँगी व्योम में भी उनको लिये-दिये ।
निश्चित समय जहाँ आया लौट जाऊँगी, केवल उन्हें ही तुम्हें सौंप नहीं जाऊँगी ,
और एक जन को भी, जिसको जनूँगी मैं, और फिर के मरके भी अमर बनुँगी मैं ।''(97).

हिडिम्बा परिणय की याचना करके एक पुत्र की प्राप्ति तक भीम का पतीत्य स्वीकार करना चाहती है ।

और कहती है कि पुत्र प्राप्ति के पश्चात वह भीम और पुत्र दोनों को सोंप देगी । हिडिम्बा की कथा में गुप्तजीने स्त्री मातृत्व की सुन्दर अभिव्यंजना की है । चारित्रिक सृष्टि नवयुग की विचारधारा के अनुकूल है और मुखरित प्रेमाभिव्यक्ति को भी अत्यंत संयमित रुप देकर प्रेम और श्रेय की समन्वित अभिव्यक्ति की गई है । वह आगे कहती है कि –

''असुरों से नाता नहीं जोड़ते क्या सुर भी ?
पूर्ण है पुलोमजा से इन्द्र - अन्तःपुर भी ।
और यदि शर्मिष्ठा तुम्हारी पुरखिन है,
तो तुम्हें हिडिम्बा को निभाना क्या कठिन है।''(98)

हिडिम्बा पुलोमा (इन्द्राणी) तथा शर्मिष्ठा आदि राक्षस कन्याओं का हवाला देने लगती है तब तो कुंती निरुत्तर हो जाती है और उसे पूर्ण काम होने का आशीर्वाद देती है । इतना ही नहीं, इस प्रसंग में कुंती हिडिम्बा का हाथ भीम के हाथ में न देकर भीम का पाणी हिडिम्बा को ग्रहण करा देती है ।

''हाथ उसका तो नहीं भीम को धरा दिया,
भीम का ही पाणि उसे ग्रहण करा दिया ।''(99)

गुप्तजी की हिडिम्बा आधुनिक नारी के समान विचारशीला तथा बुद्धिमत्ता से परिपूर्ण है । वह अपने विनयशील स्वभाव से भीम के समस्त परिवारजनों को मोहित कर लेती है । वह अपने पक्ष के समर्थन में कुंती से जो तर्क करती है, उसमें उसकी सूक्ष्म बुद्धि और तार्किकता झलकती है । हिडिम्बा की इसी तर्कशीलता और बुद्धि से प्रभावित होकर कुंती उसे अपनी पूत्रवधू बनाती है । यह प्रसंग गुप्तजी का बिलकुल मौलिक है । गुतजी ने स्थान-स्थान पर आदर्शवादी शब्दों को ही कहलवाया है । इस प्रकार कवि ने हिडिम्बा के परंपरागत चरित्र में परिष्कार कर दिया है और उसे मनोवैज्ञानिक कसौटी पर कहते हुए स्त्रियोचित स्वाभाविक गुणों के आधार पर चित्रिच किया है । जयभारत के 'हिडिम्बा' सर्ग में हिडिम्बा भीम के सम्बन्ध से घटोत्कच को जन्म देती है ।

''सुफल घटोत्कच था इस नव कार्य का,
राक्षस के बल में समाया शील आर्य का''(100)

हिडिम्बा राक्षसी है, परन्तु गुप्तजी ने अपनी नारी के प्रति आदर्शवादी द्रष्टि तथा उपेक्षित नारियों के प्रति श्रद्धा होने के कारण उसे नायिका की प्रतिष्ठा दी है । हिडिम्बा को गुणवती सुन्दरी के रुप में चित्रित किया है । हिडिम्बा के चरित्र द्वारा गुप्तजीने प्रेम और त्याग तथा मातृत्व की सुन्दर व्यंजना की है ।

निष्कर्ष यह है कि हिडिम्बा के चरित्र पंकि भावों को धोकर उज्जवल पक्षों का उद्घाटन

करने का स्तुत्य प्रयास किया है । कवि ने उसके चरित्र में परिवर्तन किये है । 'हिडिम्बा' काव्य की हिडिम्बा कामातुर नहीं, संस्कार सम्पन्न नारी है । वह मुग्धा प्रेमिका है । महाभारत की कठोर, संस्कारहीन नारी न होकर संवेदनशील, बुद्धिमती, विवेकशील और प्रगतिशील नारी का द्यष्टिकोण रखने वाली आधुनिक है । इस तरह हिडिम्बा का चरित्र नारी सुलभ मानवीय गुणों से संयुक्त कर उसके चरित्र का परिष्कार किया है । वह राक्षसी नहीं, आदर्श नारी है ।

कैकेयी :-

कैकेयी का चरित्र जो परंपरा से चला आता था उसमें मै.गुप्तजी ने मनोवैज्ञानिक रुप प्रस्तुत करके नवीन उद्‌भावना प्रकट की है जिससे कैकेयी हीन न होकर वह दया का पात्र बन गई । साकेत की कथावस्तु को एक नवीन द्रष्टिकोण के साथ रखने में कैकेयी का स्थान, कथावस्तु में महत्वपूर्ण हो उठा है । सर्वप्रथम कैकेयी एक स्नेहशील माता के रुप में द्यष्टिगोचर होती है । कैकेयी राम से अगाढ़ स्नेह रखती है । कैकेयी के वात्सल्य में दीनता नहीं है । उसमें ममत्य और मोह के साथ-साथ वेग और आग है ; साथ ही अधिकार प्रतिपादन की स्पृहा भी । वह पुत्रों से अत्यधिक प्रेम करती है इसलिए उनके लिए सब कुछ करने को तैयार रहती है । राम उसे भरत से अधिक प्यारे हैं तभी वह कहती है –

''होने पर प्रायः अर्द्धरात्रि अन्धेरी
जीजी आकर कहती पुकार थी मेरी
लो कुहुकिन अपना कुहुक, राम पर जागा
निज मंसली माँ का मुख न देख उठ भागा ''(101)

इसीलिए मंथरा जब राम और कौशल्या के विरुद्ध विष वमन करती है तो वह आश्चर्यचकित होकर सक्रोध यह कहती है कि –''वचन क्यों कहती है तू वाम, वहीं क्या मेरा बेटा राम ?''(102) परन्तु मंथरा ने मनोवैज्ञानिक भाव भूमि पर सधे और मर्मघाती शब्दों में जब यह कहा कि –

''देखकर किन्तु स्वामि-हित-घात निकल ही जाती है कुछ बात
इधर भोली हैं जैसी आप, समझती सबको वैसी आप !
नहीं तो यह सीधा षड़यन्त्र, रचा क्यों जाता यहाँ स्वतंत्र ?''(103)

यह सुनते ही कैकेयी का क्रोध भड़क उठता है और वह एकदम रौद्र रुप धारण करके कहती है –

''सामने से हट, अधिक न बोल, द्विजिव्हे, रस में विष मत घोल ।

उड़ाती है तू घर में कीच, नीच ही होते हैं बस नीच ।
हमारे आपस के व्यवहार, कहाँ से समझे तू अनुदार ?''(104)

आखिर जो होना होता है होकर रहता है । कैकेयी के मानस में उथल-पुथल मच जाती है । उसके हृदय में एक विचित्र रुप से संदेह आंदोलित हो उठते है । कैकेयी के मन में 'भरत से सुत पर भी संदेह' यह उक्ति उसके मन में संवेगात्मक प्रक्रिया उठती है । उसका मन पुत्र-प्रेम एवम् सौतिया डाह की भावना से ही कुटिलता की शरण लेता है । वह पुत्र के प्रति होने वाले अन्याय को सहन नहीं कर पाती और उसका प्रतिशोध लेने के लिए दुर्गा का वेष धारण कर कोप-भवन में जाकर अपना कार्य-सिद्ध करती है । सीता और लक्ष्मण वन चले जाते हैं । भरत जब ननिहाल से वापस आते है और राम, सीता, लक्ष्मण के वन में जाने का कारण अपनी माँ को ही समझता है तो उसकी बड़ी भर्त्सना करता है तब कैकेयी का ममत्व व्याकुल हो उठता है । वह कहती है –

''किन्तु उठ ओ भरत मेरा प्यार; चाहता है एक तेरा प्यार,
राज्य कर, उठ वत्स, मेरे लाल, मैं नरक भोगुँ भले चिरकाल।''(105)

कैकेयी को जब अपने भीषण कुकृत्य का परिज्ञान होता है तो वह ग्लानि से भर उठती है । उसे घोर पश्चाताप होता है । भरत द्वारा तिरस्कृत एवं लांछित होने पर उसका मातृ-हृदय चीत्कार उठता है कि निःसंदेह तू भी कैकेयी का स्नेह न जान पाया । हे वत्स यह वही स्नेह है जो तुझमें व्याप्त है और जो तुझे प्राप्त राजपद को भी छोड़ने के लिए तत्पर कर रहा है ।(106) जब भरत राम को मनाने के लिए चित्रकूट जाते हैं तो अयोध्या समाज के साथ कैकेयी भी जाती है । वात्सल्य की अविचल दीप-शिखा आज भी उसके हृदय में प्रदीप्त हैं, आत्माभिमान ने आज भी उसका पल्ला नहीं छोड़ा है, उसे अपने मातृत्व पर उसे अपार गर्व है । अपनी भूल स्वीकार करती है, उसे अपने अपराध का आभास हो गया है । उस भूल का परिहार करने का भी निश्चय कर चूकी है । यदि कैकेयी अपने ही जात को समझ न पायी है तो उसका अपराध भी अज्ञात प्रसूत है, अनजाने में ही हो गया है । वह अटल स्वर में कहती है –

''यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को''
चौंके सब सुनकर अटल कैकयी–स्वर को ।
सबने रानी की ओर अचानक देखा,
वैधव्य –तुषारावृता यथा विधु-लेखा।
बैठी थी अचल तथापि असंख्यतरंगा ,
वह सिंहीं अब भी हहा ! गोमुखी गंगा – (107)

कैकेयी राम को संबोधित करके कहती है, यदि यह सत्य है कि भरत की जननी होकर भी उसे समझ न

पाई तो अब तुम घर लौट चलो । कैकेयी का यह अटल स्वर सुनकर सब चौंक जाते है और रानी की ओर देखते हैं । उस समय कैकेयी ऊपर से बिल्कुल निश्चल दिखाई पड़ती है परन्तु उसके मन में सहस्त्रों भाव की लहरियाँ उठती है तथा मिटती है । वह आज सिंहनी गौ मुखी गंगा सी दिखाई पड़ती है । वह राम से कहती है कि तात ! मैं , तुम्हारी माँ, तुम्हारी अपराधिनी हुँ । कसम खाना दुर्बलता का ही द्योतक है । परन्तु अबलाओं के लिए सम खाने के अतिरिक्त और उपाय नहीं है । कैकेयी की सबसे बड़ी विभूति और उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता भी उसका मातृत्व है । वह कहती है कि अगर मेरे इस कुकर्मो में भरत का हाथ है या मुझे वरदान मांगने के लिए उकसाया गया है तो 'पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ ?' [108] भरत के चरित्र-गौरव की रक्षा करते हुए अपने हृदय को दण्ड देने का विचार करती है । एक ओर वह भरत की कलंक-कालिमा को धो डालने के लिए व्यग्र है तो दूसरी और उसे अपने पहाड़ से पाप का अनुताप करना चाहती है । वह फिर से कहती है कि 'मरी मंथरा दासी भला क्या कर सकती थी ?' मेरा ही मन अपना विश्वास न कर सका । [109] वह अपने हृदय को भी कोसती है कि हड्डीयों के ढाँचे इस शरीर में स्थित अभागे और व्याकुल होनेवाले हृदय तू जल जा । ज्वाला के समान दग्ध करने वाले विचार तुझ में ही तो जागे थे । परन्तु उस समय क्या मेरे हृदय में ईर्ष्या की ज्वाला से भरे विचार ही थे । हृदय में उस समय क्या और भाव न थे ? एक मात्र पुत्र-प्रेम, क्या तेरा कुछ भी मूल्य नहीं ? पर उस वात्सल्य को भी मैं प्राप्त न कर सकी । आज मेरा अपना पुत्र भी मेरे लिए पराया बन गया है । तीनो लोकों के वासी भले ही मुझ पर थूंके परन्तु भरत का मातृपद मुझसे न छीना जाए । हे राम ! और मैं तुझसे क्या विनय करुँ ? अब तक मनुष्य यही कहा करते थे पुत्र कुपुत्र हो सकता है, माता कुमाता नहीं होती । अब लोग परंपरा से विरुद्ध यह बात कहेंगे कि 'माता भले ही बुरी हो परन्तु पुत्र सुपुत्र ही रहता है' । [110] मैं ने भरत का बाहरी रुप ही देखा । इसके द्रढ़ हृदय को न देख सकी, केवल इसके कोमल शरीर को ही देख पाई । कैकेयी जन कर भी भरत को न समझ सकी यही असमर्थता उसकी शक्ति है । एक साथ ही वात्सल्य, करुणा, दीनता और अनुरोध भरा स्वर है । रानी की शपथ में निराशा की आग है । कैकेयी की सबसे बड़ी विभूति और उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता भी है उसका मातृत्व, उसके लिए तो यह कहना भी गहनतम मानसिक व्यथा का परिचायक है । पुत्र की मृत्यु की चर्चा एक माता के लिए असह्य होती है । मातृत्व की अंतिम परीक्षा आज भी यही है । कैकेयी उन्मत्त हो रही है, वह कहती जाती है । उसका आवेश अवस्था, बुद्धि, धैर्य, मर्यादा सभी को लाँघ कर बह निकला है । कैकेयी कहती है कि मैं ने पूर्णतया अपना स्वार्थ-साधने का ही प्रयत्न किया, दूसरों के हित का ध्यान न रखा । इसलिए आज यह विपत्ति सामने आयी । यहाँ कवि ने युग-युग से कैकेयी के माथे पर लगे कलंक को धोने का सफल प्रयत्न किया है । सभा से संबोधित हुई कहती है कि विचारवान पुरुष सुन लें, मैं चिर काल तक नरक में रह सकती हुँ, परन्तु मेरे लिए स्वर्ग की दया नरक के

दण्ड से भी कठोर है । भले ही प्रत्येक जन्म में मेरी आत्मा यही सुने कि 'धिक्कार', उस रानी को अत्यधिक स्वार्थ ने घेर लिया था ।'[111] कैकेयी आज अपने अतिरिक्त किसी को भी दोषी नहीं मानती । उसकी द्रष्टि में तो 'द्विजिहा' तथा 'अनुदार' मंथरा भी सर्वथा निर्दोष है । कैकेयी फिर आगे कहती है कि मैं भरत को नहीं जानती परंतु आप जानते हो भरत प्यारा है – उसे तुम प्यारे हो, इसलिए तुम मेरे लिए दुगुने प्रिय हो । मैं इसके हृदय को नहीं पहचान पाई । मैं स्वयं कीचड़ की भांति मलिन बनी रहूँ परन्तु मेरा यह पुत्र कमल की भांति निर्मल है । कैकयी हृदय से चाहती है कि राम लौट चलें परंतु उसकी इस बात पर कौन विश्वास करेगा । हे पुत्र मेरे पास तो तेरे लिए एक ही व्याकुल हृदय है – वह कहती है कि कभी - कभी राक्षसों की बूरी भावनाएँ (राक्षसी दुष्प्रवृत्तियाँ) भी पल्लवित हो जाती है । सदा देवताओं की भावनाओं के अनुसार कार्य नहीं होता । आज सारे संसार की घृणा का मैं पात्र बन गई हुँ । इस घृणा ने ही शांति सहित मुझे मेरे भ्रम से अवगत कराया है । वह राम से कहती है कि मैं अपने स्वामी को जीवित अवस्था में सुख न पहुँचा सकी परन्तु मरने के उपरांत तो मैं उन्हें मुख दिखा सकूँ । कैकेयी का चरित्र यहाँ उज्जवल हो जाता है , वह कुटिल कैकेयी नहीं रहती ।

राम के वापस न लौटने पर कैकेयी कहती है कि जब लोग मुझ पर आक्षेप करेंगे तो मैं उस स्थिति का सामना न कर पाऊँगी । वह अपने वचन भी वापस लेने को कहती है और राम को लौटने को कहती है । राम के समक्ष प्रकट होनेवाले ये सारे मनोद्‌गार कैकेयी के मनोव्यथा के परिचायक है । कैकेयी का अपने अपराधों का स्वीकार करना, रघुकुल की इस अभागिन रानी के व्यक्तित्व का छोटा बनाने के बजाय कुछ उपर ही उठाता है और वह एक लाल की माई सौ बार धन्य हो उठती है । साकेत की चरित-भूमि में अपने मनोद्‌गारों एवं मनोभावों के अंतर्गत प्रकट होनेवाला कैकेयी का स्वरुप उसके व्यक्तित्व को एक स्नेहशील माता, पुत्र-हित-कामना से प्रतिशोध की मूर्ति बनी एक दुर्बल हृदयनारी एवं पुत्र- स्नेह को पुनःप्राप्त करने की द्रष्टि से एक परितप्त हृदय माता के रुप में उपस्थित करता है । उसकी क्रुरता निर्मलता में, दर्प-भावना कोमलता में एवं द्वेषवृत्ति विनम्रता में परिणित हो जाती है और उसके गद्‌गद् बोल उसके मातृ-हृदय की महिमा से सारे कलुष को, संपूर्ण कपट-व्यवहार को धो डालते है । इस प्रकार युगों से कलंकित चरित्र साकेत में बड़ा भव्य और उज्जवल बन जाता है । पश्चाताप की अग्नि में तपकर और आत्मग्लानि के अश्रु-प्रवाह से प्रक्षालित होकर कैकेयी का हृदय निष्कलुष किंबा पवित्र हो जाता है । डा. उमाकान्त गोयल ने लिखा है – ''भारतीय साहित्य के चिर कलंकित पात्रों में कैकयी की तो उन्होंने काया पलट दी है । साकेत के अध्ययन के पश्चात् कैकेयी के प्रति युगान्तर का घनीभूत मालिन्य निःशेष हो जाता है ।''[112] जिस स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिकता की पृष्ठभूमि पर कैकेयी का चरित्र अंकित हुआ उसके कारण वह पाठक की सहानुभूति एवं करुणा का पात्र बन जाती है । अपने

युग-युगों के कठोर स्वरुप को छोड़कर, द्रावक बन जाती है और इस द्रावकता का एक मात्र कारण उसका संवेदनशील, भावुक, सरल-तरल मातृ-हृदय है । गुप्तजीने कैकेयी को मातृत्व की मंगलमयी महिमा से अलंकृत किया है । कैकेयी का व्यक्तित्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । उसके व्यक्तित्व की विशेषता एवं मौलिकता इस बात में है कि उसके जिस व्यक्तित्व की राम-विरोध के कारण वाल्मीकि, तुलसी, केशव आदि राम-काव्यकारों ने उपेक्षा की, उसे गुप्तजी ने एक अभिनव एवं मौलिक रुप प्रदान किया है ।

संक्षेप में कि कैकेयी की उक्त विशेषताएँ उसके वंशानुक्रम तथा परिवेश की देन है और इस द्रष्टि से उसके व्यक्तित्व में कोई वैषम्य लक्षित नहीं होता । किन्तु दुष्टा मंथरा की कुटनीति तथा उसके पारिवेशिक दुष्प्रभाव एवं षड्यंत्र और नारी-मनोविज्ञान के अनुकूल अपनी संदिग्ध वृत्ति के कारण उसका व्यक्तित्व परिवर्तित हो जाता है और अपने वात्सल्य के संवेग तथा प्रतिशोध की भावना के कारण वह क्रुद्ध नागिन का -सा भयंकर रुप धारण कर लेती है ।

किन्तु साकेतकार की विशेषता एवं मौलिकता यदि एक ओर कैकेयी की निश्छलता, सपत्नी-प्रेम तथा सपत्नी-पुत्र राम के प्रति अगाध वात्सल्य के प्रदर्शन में है तो दूसरी ओर उसके पश्चाताप एवं आत्म-ग्लानि के साथ चित्रकूट में राम को अयोध्या लौटाने के प्रयत्न में भी है।

सीता :-

सीता का चरित्र मुख्यतः परंपरागत है फिर भी कवि ने उसके चरित्र में नवीनता का समावेश किया है । गुप्तजी लिखित 'पंचवटी', 'साकेत', 'प्रदक्षिणा' और लीला में सीता का चित्रण अंकित हुआ है । कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है । अतः स्वाभावतः कवि ने भी 'साकेत' की सीता को ऐतिहासिक-पौराणिक सीता की सीमाओं में रखते हुए भी रचनाकालीन परिस्थितियों एवं परिवेश की उन पर पर्याप्त छाप छोड़ी है । इसलिए सीता में आधुनिक परिवेश का योग है । स्वातंत्र्य प्रेम, प्रकृति-प्रेम, वन्य जीवन के प्रति आकर्षण, कुटिल उद्योग की आवश्यकता, जाति-भेद की निरर्थकता आदि वैचारिक प्रवृत्तियों का उत्कृष्ट संयोग है । सीता के चरित्र में उदारता एवं महानता, दृढ़ निश्चयता एवं स्वावलंबन, व्यवहार चातुर्य एवं विनोद प्रियता तथा मृदुता एवं भावुकता के दर्शन होते है जिसके फलस्वरुप वह एक आदर्श नारी के रुप में उपस्थित होती हैं । साकेत में 'सीता' पति से प्रेम करने के साथ-साथ आधुनिक नारी की भाँति अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी रखती है । पति के कार्यो में वे आवश्यकतानुसार परामर्श देती है व वाद-विवाद भी करती है । पति-सेवा उनकी दृष्टि में भी महान हैं परन्तु उनके अपने जीवन का भी कुछ लक्ष्य है । 'गुप्तजी की सीता के व्यक्तित्व में यदि एक गंभीरता एवं विनोदवृत्ति का सामंजस्य है तो दूसरी और उनकी व्यक्तित्व की महत्ता भी सर्वथा अक्षुण्णा है । अपने

हास्य-परिहास एवं विनोद-वृत्ति के कारण वे अपने देवर लक्ष्मण तथा पति राम दोनों से ही हास्य-परिहास करती हैं । परिणामतः उनका वनवास भी एक सुखद परिहास बन जाता है । किन्तु उनकी विनोद-वृत्ति में अश्लीलता अथवा मर्यादा का उल्लंघन कहीं प्रतीत नहीं होता । शिष्टता, श्लीलता एवं मर्यादा उसकी विशेषता है ।

काव्यारंभ में हम सीता को एक कुल वधू के रुप में पाते हैं, दशरथ परिवार में एक आदर्श गृहिणी दिखाई देती है । देवार्चन में लगी हुई अपनी सास कौशल्या का हाथ उत्साहपूर्वक बाँटती है । सीता के व्यक्तित्व का पति-प्रेम सर्वाधिक उल्लेखनीय है । अपने पति राम से वियुक्त हो कर वे पति से अपने को भिन्न नहीं समझतीं । इसलिए 14 वर्ष तक राम के वनगमन की सूचना पाकर पति के साथ ही वन जाने में अपने को धन्य मानती हैं । अर्द्धांगिनी का रुप साकेत की सीता में प्रकट हुआ है । सीता स्वयं यह घोषित करती है कि राम की अर्द्धांगिनी है और उनके सुख-दुःखो में उनका भाग है ।

''जो गौरव लेकर स्वामी ! होते हो काननगामी,
उसमें अर्धभाग मेरा, करो न आज त्याग मेरा ।
मातृ-सिद्धि-पितृ-सत्य सभी, मुझ अर्द्धांगी विना अभी,
है अर्द्धांग अधूरे ही, सिद्ध करो तो पूरे ही ।''(113)

यहाँ पर सीता अर्द्धांगीत्व के बल पर वन-गमन की स्वीकृति चाहती है । यद्यपि गुप्तजी नर-नारी के समान अधिकारों को मान्यता अवश्य प्रदान करते है, परन्तु दोनों के परस्पर प्रतियोगी न होकर, सहयोगी होने पर । कारण यह है कि स्त्री के संघर्ष से पुरुष का जीवन आन्दमय बनता है । आदर्श पति एवं पत्नी से ही कुटुंब रुपी रथ सम्यक् गतिमान रहता है। सीता एक आदर्श पत्नी, वीरांगना एवं लज्जाशील कूलवधू के रुपमें चित्रित की गई है। अर्द्धांगिनी के रुपमें वनवास में भी एकांकी काननगामी नहीं होने देती। राम के वनगमन की तैयारी के अवसर पर एक आदर्श पत्नी के रुप में अनुगामिनी बनने में ही अपना कल्याण समसती है - अपने पति राम से वियुक्त होकर वे अयोध्या अथवा अन्यत्र एक पल भी नहीं रहना चाहती क्योकिं वे पति से अपने को भिन्न नहीं समझती। उनका यह द्रढ़ सिद्धांत है कि पति ही पत्नी के लिए देवता, ईश्वर, मोक्ष आदि सब कुछ है। उसके अभाव में उसकी गति नहीं हो सकती। उसके होते हुए अपने पति व्रत्य के बल से साध्वी नारियाँ काल परभी विजय प्राप्त कर लेती है और उसके साथ वन ही नहीं, अग्नि की ज्वाला में भी सहर्ष प्रवेश कर लेती है। इसलिए कहती है की -

''मेरी यही महामति है - पति ही पत्नी की गति है।

नाथ ! न जाय दो तुम हमको, जीत चुकी है हम यम को ।
सतियो को पति-संग कहीं - अगम गहन क्या दहन नहीं ।'' (114)

प्रथमबार सीता एक प्राणवान पत्नी रुप में द्रष्टिगोचर होती है और उसका संयोगी दाम्त्य स्वरुप भी प्रकट होता है । वर जीवन के लिए अनुकरणीय होकर भी अनुप्राणि जान पड़ती है ।

वन-गमन के समय रास्ते में घनी छाया देखकर राम और लक्ष्मण को ठहरते पाकर सीता पूछती है कि क्या तुम दोनों नहीं थके , मैं ही थकी ? और आगे कुछ नहीं कहती, हँसते-हँसते रो पड़ती है तथा यह कहती है कि मुझे अपने लिये कुछ सोच नहीं, तुम्हे असुविधा न हो, इस बात का संकोच है ।(115) उसकी यह नारी सुलभ सुकुमारता, भावुकता एवं यात्रा-मति व्यवधान बनने के कारण उत्पन्न उसके हृदय-परिताप का परिचायक है । मार्ग में ग्राम-नारियों से होनेवाले संवाद के भी मध्य भी सीता की नारी सुलभ लज्जा परिलक्षित होती है । अपने पति का परिचय देती है कि 'गोरे देवर, श्याम उन्हीं ज्येष्ट है ।'(116) तरल हंसी के साथ सरल भाव से यह कहना सीता के जातिगत संस्कारो के परिचायक है। सीता के जीवन में वियोग की अपेक्षा संयोग का ही आधिक्य रहा है। वह वन में भी गृहस्थ जीवन व्यतीत करती है । उनका राम के साथ का परिहास अमित प्यार और दुलार से भरा हुआ है । चित्रकूट में कटि में अंचल पर खोंसकर कछौटा मारे वह एक नई घज-घारण करती है । सीता वन के वृक्षो को पानी सींच रही थी तब राम उनकी सौन्दर्य-सुघाका उपलक पान कर रहे थे । सीता अत्यंत धैर्य से यथा समय आए हुए संकटो के साथ मुकाबला करने का प्रयत्न करती है । सीता के प्रत्येक व्यवहार मे दृढ़ निश्चयता स्पष्ट होती है । यह राम के अनुसार स्वावलंबी जीवन में रुचि लेती है । किसी भी प्रकार के कष्ट करने में वह निरंतर उत्सुक रहती है । वनवास में रहना, हिंसात्मक पशुओ का भी मय न मानना, प्रातः काल से संध्या तक कार्यरत रहना, वर्षा, घूप तथा शीत मौसम में भी अपने व्यवहार सीता के स्वावलंबन के एवं मनोवैज्ञानिक सिद्ध होते है। सीता जानती है की अरण्यवास ग्रहण करने के लिए कठिन साघना की आवश्यकता होती है। पति के सुख में उनका सुख है और पति के दुख में दुःख । यही कारण है कि पति के साथ वे वन में भी राजसुख का अनुभव करती हैं । चित्रकूट में सीता अपनी कुटीया को राजभवन से भी सुंदर मानती है । वहाँ धनवैभव है तो यहाँ उसे आत्मिक सुख लभ्य है । कुटीया और राजभवन की तुलना करते हुए कहती है कि यहाँ पर्णकुटी में प्राणेश ही सम्राट है और देवर लक्ष्मण ही मंत्री है । मुनिवर आशीर्वाद देनेवाले है । यहाँ धन का कोइ मूल्य नहीं । यहाँ हिरन और सिंह भेदभाव को और अपनी क्रुरता को भी भूलकर एक ही किनारे पर पानी पीते है । (117) परिश्रम और स्वावलंबन उनके जीवन के आधेय है । सीता स्वावलंबन के महत्व को गर्व से प्रगट करते हुए कहती है मैं दूसरे के हाथों मे नही पलती

हुं। मै आत्म निर्भर हुं। खुद परिश्रम करके पसीना बहाती हुं। इससे स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है। मैं अपने अंचल से हवा कर लेती हुं। (118) पति के साथ वनवासमें रहकर अपने ज्येष्ठत्व के फलस्वरुप वनमे स्थित कोल, किरात और भिल्ल बालाओ को अपने नागर की भेंट देती हुई उनकी अर्द्ध नग्नताओ दूर करने के लिए कातना-बुनना शिखाती हैं। वह कहती है कि -

''तुम अर्घ्द्ध नग्न क्यों रहो अशेष समय में,
आओ, हम कातें-बुने गान की लय में।'' (119)

यहाँ कविने गांधीजी के चरखे को लोकप्रिय बना कर लोगों को स्वावलंबन बनाने का आदेश दिया है। सीता स्वयं वन की देवी देवताओ की उपासना में निरत रहती है। अपने पति के प्रति सेवा एवं श्रद्धा-भाव द्वारा पूर्ण नैतिक निष्ठा का परिचय है। इस तरह चित्रकूट की पर्णकूटी में राजमहिर्षी होते हुए भी प्रत्येक छोटा-बड़ा कार्य करती है जैसे वृक्षो को पानी देना, कातना-बुनना एवं अन्य गृह कार्यो के करने में उन्हे अमीत आनंद का अनुभव होता है। परिणामतः कुटिया में राजभवन का सुख महसुस करती है।

साकेत की चरित्र-भूमि में सीता की चरित्र-सृष्टि एक नवीन कलेवर के साथ उपस्थित होती है। मनोभावों के अन्तर्गत उसका जो स्वरुप लक्षित होता है, उसके अंतर्गत भी सीता एक आदर्श रमणी के अतिरिक्त हाड-माँस की नारी भी है। 'पुरुषो की तो बस राजनीति की बाते' (120) जैसे वाक्य उसके नारी हृदय के सहज उद्गार से जान पड़ते है जो सीता की दाम्पत्य भावना के द्योतक है। कुटुंब प्रेम सीता के व्यक्तित्व की एक प्रमुख विशेषता है। चित्रकूट में भरत अपनी सेना सहित द्रष्टिगोचर होते है तब सीता परमात्मा से गृह-कलह की शांति की प्रार्थना करती हुई कहती है —

''गृह-कलह शान्त हो, हाय! कुशल हो कुल की,
अक्षुण्ण अतुलता रहै सदैव अतुल की।
विग्रह के ग्रह का कोप न जानें अब क्यों,
आ बैठे देवर, राज्य छोड़ तुम जब यों ?''(121)

चित्रकूट में स्थित सीता एवं राम से मिलने हेतु आए हुए 'साकेत' वासियों का स्वागत वह अत्यंत विनोदभाव से करती है जिससे निराश एवं दुःखी साकेत वासियों का मनोघैर्य प्रबल होने लगता है। राम के किसी भी प्रकार अयोध्या लौटने के लिए सहमत न होने पर, भरत उनकी अनुपस्थित में सीता से राज-कार्य संभालने का अनुरोघ करते है पर वे न केवल तुच्छ समझकर ठुकरा देती है; प्रत्युत उनके प्रस्ताव का तिरस्कार करती है जैसे उनके प्रति बहुत बड़ा अन्याय किया जा रहा हो। उनका कथन है -

''पर मुझको भी तो तब न ? ''मैथिली बोलीं —

कुछ हुई कुटिल - सी सरल द्वष्टियाँ भोली ।
कह चुके अभी मुनि - ''सभी स्वार्थ ही देखें ।
अपने मत में वे यहाँ मुझी को लेखें ।''(122)

सभा समाप्त हो गई है । सब अपने मन की कह सुन चुके है । उर्मिला भी सब के साथ चित्रकूट आई है पर वह लक्ष्मण से कुछ कहने का अवसर नहीं पा सकी है । कुछ ही देर मे सब वहाँ से चल देने वाले है । ठीक इसी समय सीता को देवर-देवरानी की याद आती है । उसे मालूम है उर्मिला कुटिया के कोने मे चुपचाप बैठी है । सीता लक्ष्मण को सीघे उर्मिला के पास भेजने के बजाय यह कहती है –

''हे तात, ताल सम्पुटक तनिक ले देना,
बहनों को वन-उपहार मुझे है देना ।'' (123)

सीता जिस कौशल से इस आकस्मिक मिलन का आयोजन करती है, उसी कौशल से गुरुजनों की निगाह पड़ने से पहले ही संकेत से इसे समाप्त भी कर देती हैं ।

''एक-घड़ी भी बीत न पाई, बाहर से कुछ वाणी आई,
सीता कहती थीं कि-''अरेरे, आ पहुँचे पितृपद भी मेरे ।'' (124)

लक्ष्मण को सुनाकर उच्चस्वर में सीता का यह कहना कि अरे, यह तो मेरे पिता आ गये । अर्थात लक्ष्मण, अब तुम बाहर आ जाओ । गुरुजन की निगाह न पड़े। इसीतरह अत्यंत कलात्मकता से लक्ष्मण के साथ उर्मिला का मिलन कराती है । यहाँ गुप्तजी ने संयुक्त कुटुम्ब के ग्राहस्थ जीवन की झांकी प्रस्तुत की है ।

सीता का सरल एवं उदार स्वभाव देखकर शूर्पणखा राम को प्राप्त करने का प्रस्ताव भी सीता के सम्मुख करती है जिसको सुनकर सीता न क्रोघ प्रकट करती है और नहीं कोई चिंता । सीता जानती है कि शूर्पणखा राम को पाने के लिए कितना भी प्रयत्न करे वह उनको न पा सकेगी । सीता का यह द्रढ़ आत्मविश्वास है ।

अशोक वाटिका में हनुमान के समक्ष सीता का यह कथन कि ''राम-जानकी के सम्बन्घ इसी जन्म के लिए नहीं है ।'' अर्थात सीता का यह उद्गार पति-परायणता का ही परिचय देता है। उसकी अटूट पति-भक्ति एवं प्रेम के परिचायक है । अपने पति राम के वियोग - दुःख से विहवला सीता संसार से इतनी विरक्त हो जाती है कि देखकर लगता है मानो स्वयं विरक्ति ही उनके रुप में मूर्तिमान हो गई हो । उनकी स्थिति बड़ी करुण प्रतीत होती है और वे 'क्षण-क्षण में भय खाती' तथा 'कण कण आँसु पीती है' (125) तथापि उनके पति-प्रेम, अनन्यता, दृढता, निर्भीकता आदि शील-गुणों में कोई अंतर

नहीं पड़ता। सीता सतीत्व की साकार मूर्ति है। अपहरण हो जाने के पश्चात रावण जब उन्हे रानी बनाने का प्रलोभन देता है तो वह उसे बुरी तरह फटकारती ही नहीं है। वरन् अपने सतीत्व के बल के प्रभाव से उसे दर्पहीन कर देती है। उसकी भर्त्सना करती हुई कह उठती है –

''में वह सीता हूँ, सुन रावण, जिसका खुला स्वयंवर था,
वर लाया क्यो मुझे न पामर, यदि यथार्थ ही तू नर था ?
वर न सका पुरुष, जिसे तू, उसे व्यर्थ ही हर लाया,
अरे, अभागे, इस ज्वाला को क्यों तू अपने घर लाया ?
भाषण करने में भी तुझसे, लग न जाय हा! मुझको पाप,
शुद्ध करुँगी मैं इस तनु को अग्नि-ताप में अपने आप।''(126)

राम के प्रति सच्ची आस्था और प्रेम के बल पर उन्होंने पति वियोग की वेदना को सहा है ।

'पंचवटी' में भी राम, सीता और लक्ष्मण के सुंदर पारिवारिक जीवन के वर्णन के साथ साथ स्वावलंबन, श्रम की महत्ता, अछूतोद्धार आदि गांधीजी के सामाजिक विचार भी अभिव्यकत हुए है। लक्ष्मण भाभी के कार्य से प्रसन्न होकर कहते है कि भाभी के इस स्वावलंबन की एक झलक पर कुबेर का सारा कोष न्योछावर है।

''अपने पौधों मे जब भाभी भर - भर पानी देती है,
खुरपी लेकर आप निराती जब वे अपनी खेती है।
पानी हैं तब कितना गौरव कितना सुख कितना संतोष
स्वावलंब की एक झलक पर न्योछावर कुबेर का कोष।'' (127)

इसी रचनामें सीताका मानवी रुप भी दीख पड़ता है। शूर्पणखा की कामाशक्ति इतनी बढ़ जाती है कि जिसके फलस्वरुप वह उसे ग्लानि में अपने व्यवहार करने लगती है। उसके अव्यवहार्य कार्य को देख किसी भी सर्व साधारण व्यक्ति में शूर्पणखा के बारे में घृणा निर्माण हो सकती है, परन्तु सीता की मानवता इतनी चरम सीमा धारण कर लेती है कि उसके कारण उसमें न तो कपटनीति का संचारण होता है, न घृणा, न ही इर्ष्या । पारिवारिक उत्तरदायित्व संभालने में सीता अत्यंत तत्परता से राम की सहायता करती है । 'पंचवटी'में भी विनोदप्रियता का प्रसंग आया है । एक सुन्दर रमणी के रुप में प्रस्तुत शूर्पणखा को देख सीता की विनोद प्रियता जागृत हो जाती है । सीता के चरित्र में पर्याप्त मात्रा में मृदुता एवम् भावुकता भी परिलक्षित होती है । कामासक्त शूर्पणखा राक्षसी की वासनापूर्ति के विषय में भी कठोर व्यवहार की अपेक्षा कोमलता ही बरतती है । शूर्पणखा के साथ वह बहन का सम्बन्ध प्रस्थापित कर

अपनी भावुकता का परिचय देती है ।

'प्रदक्षिणा' में राम जब पिता की आज्ञा के अनुसार वन जाते है तब समय का महत्व समझकर सीता अत्यंत भावावेश में आकर लक्ष्मण को रोकने का प्रयत्न करती है । वह ठीक तरह जान लेती है कि लक्ष्मण के निष्कासन में नवविवाहिता उर्मिला की अवस्था क्या होगी ? वह जानती है कि नारी की विरहावस्था कितनी दयनीय एवं भयानक होती है ।

''लीला'' में सीता की मृदुता स्पष्ट होती है । सखियों से अत्यंत मृदुता से व्यवहार करती है । जब वह राजप्रसाद में उपस्थित होती है, उसी समय अपनी बहनों तथा सखियों से मिलने की इच्छा व्यक्त कर अपनी मृदुता एवं भावुकता का परिचय देती है । समय के अनुसार उसमें परिवर्तन लाने के लिए भी वह प्रयत्न अवश्य करती है । वह अत्यंत भावुक होने के कारण ही दूसरों की विरह पीड़ा को अच्छी तरह समझ सकती है । अपना उत्तरदायित्व संभालने में वह निरन्तर सतर्क रहती है । दूसरों के प्रति सहानुभूति होने के कारण वह सदैव मिलनसार तथा सहायक के रुप में उपस्थित होती है ।

इसी प्रकार स्वछंदतानुराग, प्रकृति प्रेम, स्वावलंब, वन्यजीवन के प्रति आकर्षण, सेवा शीलता, परिश्रमशक्ति तथा उसके प्रति गौरव की भावना, संतोषमयता, परिस्थितिनुकूलन-क्षमता आदि गुणों ने भी उनके व्यक्तित्व की महत्व-प्रतिष्ठा में पर्याप्त योग दिया है ।

कुन्ती :-

कुन्ती पांडव माता के रुप में महाभारत में चित्रित हुई है । युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन के उपरांत माद्री के दो पुत्र नकुल और सहदेव की माता है । गुप्तजीने वक-संहार, हिडिम्बा तथा जयभारत काव्य में कुन्ती का चरित्र अंकित किया है । उसके चरित्र में उदारता, कोमलता, अन्याय के प्रति विद्रोह, पुत्र वात्सलता आदि विशेषताएँ दिखाई देती है । 'वक-संहार' में वह परहित के लिए अपनी सर्वश्रेष्ठ निधि, अपने एक पुत्र के बलिदान के लिए प्रस्तुत है । कुंती का वात्सल्यमयी माता और क्षत्राणी का रुप इस काव्य में उभरा है । वात्सल्यमयी माँ के साथ कर्तव्यपरायण नारी है । भीम की शक्ति से परिचित है इसलिए उसे वक के पास भेजती है ।

'वक-संहार' में कुन्ती अपने पाँचो पुत्र को लेकर एक ब्राह्मण के द्वार पर जाती है और कहती है - ''गृहनाथ हैं ? मैं अतिथि हूँ, सुत साथ है ।'' (128)

ब्राह्मणीने अतिथियों का स्वागत कर कुन्ती सहित पांडवो को सुख से आश्रय देती है । इस तरह कुंती

संकटकाल में ब्राह्मण परिवार में आश्रय पाती है । जब ब्राह्मण परिवार पर संकट आता है तो कुंती समय सूचकता और कृतज्ञता का उपयोग कर वह ब्राह्मण के संकट काल में सहायता करती है और उसी ब्राह्मण के प्रति कृतज्ञ रहना भी वह प्रथम कर्तव्य समझती है । ब्राह्मण के परिवार जन वक के सामने जाने के लिए सभी तैयार है । और रो रहे है यह देख कुन्ती कहती है कि –

''यह शोक कैसा है अरे ! तुम लोग क्यों आँसू भरे ?
आपत्ति क्या तुम पर अचानक आ पड़ी । क्या भय उपस्थित है कहो,
आत्मीय हूँ मैं भी अहो, जो कर सकूँ, तैयार हूँ मैं हर घड़ी ।'' (129)

इस तरह कुंती ब्राह्मण परिवार के लिए सब कुछ करने को हर पल तैयार रहती है। विप्र ने जब वक की कथा सुनी तो वह खेद से कहने लगी –

''मुझसे कहो, राजा यहाँ का कौन है ? कुछ यत्र वह करता नहीं,
कर्तव्य से डरता नहीं ? मरती प्रजा है और रहता मौन है ।'' (130)

वह अन्याय के प्रति विद्रोह करना चाहती है । उसका सोचना है कि अन्याय होते हुए भी मौन धारण करना मूर्खता है । वह शांति प्रिय है पर उसका क्रांति पर विश्वास है उसके विचार से जो लोक प्रतिनिधित्व करता है वही राजा बनने के लिए योग्य माना जाता है । –

राजा प्रजा का पात्र है, वह लोक - प्रतिनिधि मात्र है ।
यदि वह प्रजा-पालक नहीं तो त्याज्य है । हम दूसरा राजा चुनें,
जो सब तरह अपनी सुनें, कारण, प्रजा का ही असल में राज्य ह । (131)

कुंती का आत्मविश्वास है कि प्रजा के द्वारा ही राज्य चलता है । और यदि राजा प्रजा का उद्धार नहीं कर सकता तो हमें दूसरा राजा का चुनने पूर्ण अधिकार है । यहाँ कवि ने अन्याय के प्रति विद्रोह की भावना को उजागर किया है । और वर्तमानयुग में जो लोकतंत्र की भावना है उसे भी प्रस्तुत किर्या है। राज्य-धर्म का आदर्शात्मक विवेचन कुन्ती के वचनों द्वारा हुआ है । विप्र कहता है कि वक्र को विपुल बल के आगे राजा-प्रजा कोई नहीं जीतता । और निर्बल जनों का विश्व में कोई नहीं होता है । ये सब बातें सुनकर कुन्ती सिहर उठती है और नेत्र भर आते हैं । पर वह धैर्य से कहती है –

''कुछ हो, सभी निश्चिन्त तुम वक से रहो ।बस है तुम्हारे एक सुत,
पर पाँच है मेरे अयुत; दूँगी तुम्हें मैं एक उनमें से अहो ।'' (132)

यहाँ कुंती ब्राह्मण के स्थान पर वे अपने पुत्र को बलि देने को उद्धत होती है। उसकी त्यागशीलता का प्रमाण कविने प्रस्तुत किया है । उसके चरित्र में पर दुःख कातरता है तथा त्याग की भावना है । ब्राह्मण के यहाँ दो दिन रहने का उपकार भी मानती है । कुंती भावना के आवेश में अपने पुत्र को भेजने की बात तो स्वीकार करती है, परन्तु बाद में उसका मन क्षुब्ध हो उठता है । बाह्य अटलता कुन्ती के दर्प-दीप्त व्यक्तित्व की परिचायक है और आन्तरिक क्षोभ नारी के स्वाभाविक मातृत्व का द्योतक है। कवि ने कुंती के संचित क्षोभ की मार्मिक अभिव्यंजना की है। उसे राज्य एवम् स्वामी के चले जाने का नितान्त स्वाभाविक क्षोभ होता है।

''स्वामी गये शिशु छोड़कर, आजत्व उनका जोड़कर,
वह भी गया, हाय! क्या सुत भी चले ।'' (133)

कुंती का अंतर्द्वन्द्व इस रचना की विशेषता है । कवि ने सहज नारी के रुप में कुन्ती को लोक-पात्रों के मध्य प्रतिष्ठित किया है ।

''भगवान, मैं ही किस तरह, जाने उन्हें दूँ इस तरह ;
क्या मारने को हो उन्हें मैंने जना ?'' (134)

कुन्ती विप्र-की विपदा को हर कर अपना कर्तव्य तो कर चूकी पर अब वह वात्सल्य वश विचलित हो उठी है । कुंती माता भी है । भावनावेश में आकर वह पुत्र भेजने का आश्वासन विप्र को दे देती है परन्तु बाद में उसका मन क्षुब्ध हो उठता है । उसका पुत्र वात्सल्य जागृत हो उठता है । शिला-सी निश्चला कुंती का गला रुँध गया है । वक्र के भक्ष्यणार्थ किसी पुत्र को भेजना उसे अत्यंत कठिन प्रतीत होने लगता है । पुत्र-विरह की कल्पना से ही असह्य होने लगती है । उसकी अवस्था दयनीय हो जाती है । वह भविष्य में पुत्रों पर आनेवाले संकट का चित्र देखकर सिहर उठती है । फिर भी भगवान पर भरोसा रखती है, उनमें विश्वास करती है और धैर्य दिखाती है ।

''वह लीन थी भगवन्त में, हल का हुआ जी अन्त मे'' (135)
'' दृढ़ भक्ति रख भगवान में , हलकी हुई वह अन्त में,'' (136)

वह अपने पुत्रों से मिलकर जो भी हुआ है सब सुनाती है । युधिष्ठिर के कहने पर कि - 'माँ, यह क्या किया ? परहित के लिए तूम्हारा हृदय किस भाँति अपने सूत भेजेगा ।' तो माँ विवशता से उत्तर देती है कि मुझको समझ पड़ती नहीं है, मेरा हदय ही ऐसा बना है, अबला रहकर ही सब कुछ सहूँ । नारीयाँ रणक्षेत्र में भी पति-पुत्र को मरण तक के लिए उन्हें विदा करने के लिए तैयार रहती हैं ऐसी ही इस हृदय की दशा है ।

पाण्डु-पुत्र गदद होते हुए कहते हैं कि हमने वृथा ही तेरी परीक्षा ली है । सभी पुत्र वक के पास जाने को तैयार होते है सहदेव ने सबसे पहले कहा माँ मुझे बलि दो जिससे मेरा जन्म सुफल हो तो कुन्ती कहती है कि मुझे माद्री ने दो पुत्र दिये हैं और वे दो ही रहें । अंततः भीम कहता है माँ हिडिम्ब भी कम बलवान नहीं था । वक ने बहुतजनों को मारा है अब उसकी बारी आ गई है। कुन्ती को भीम पर बड़ा विश्वास है इसलिए –

कहने लगी कुन्ती कि - ''सब जीते रहो, '' मेरी तुम्हीं से आस है ,
मनमें बड़ा विश्वास है ; तुम नित नये यश का अमृत पीते रहो । (137)

कुन्ती भीम को आशीर्वाद देती हुई कहती है कि सभी शत्रुओं को मार पितृ राज्य का उद्धार करो और मिलकर सभी सुख का भोग करो ।

नारी पात्रों में कुन्ती का स्थान सबसे ऊँचा है । कुंती के चरित्र को उज्जवल रुप में प्रस्तुत किया गया है । सामाजिक परिवेश, सुधारवादी और आदर्शवादी, मानवतावादी तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि के आलोक में चित्रित किया है । स्त्री को स्वाभाविक मानवता का प्रतीक माना गया है । उन्हें नारी व्यथा का प्रतीक बनाया गया है ।

'जयभारत' की कुन्ती का चरित्र प्रारंभ से ही गंभीर है । जीवन में उससे एक भूल हो गयी थी, जिसके लिए पता नहीं उसका मानस कितना व्यथित और आन्दोलित रहा । पर क्षत्राणी माँ थी। एकचक्रा नगरी में ब्राह्मण के स्थान पर वह अपने एक पुत्र की बलि देने के लिए तैयार हो जाती है । महाभारत की समाप्ति पर जब सब शोकमग्न है, तब कुन्ती ही युधिष्ठिर को समझाती है कि उन्हें प्रजा की ओर ध्यान देना चाहिए । अंत में वह वन चली जाती है । 'जयभारत' में कुन्ती का संदेश क्षत्रियोचित्त वाणी से संपन्न और उत्साहवर्धक है ।

''दोनों ओर मुझे रोना ही, रुके किन्तु कातर वाणी,
मरने में ही जीने वाले जनती है हम क्षत्राणी ।''(138)

पाण्डवमाता कुंती भी अपने नवजात शिशु को गंगा में प्रवाहित कर देने पर अपने को अपराधिनी महसूस करती है । कर्ण के प्रति किए गये अपराध से पश्चाताप दग्ध होकर अपने आपको नागिन कहकर किये गये अपराध को स्वीकार करती है ।

''देवी नहीं, न आर्या ही हूँ, मैं नागिन-सी जननी हूँ ।
सबसे ऊँचा पद पाकर भी स्वयं स्व गौरव हननी हूँ ।'' (139)

गांधीवाद के अनुसार पाप का स्वीकार हृदय परिवर्तन है । इस द्रष्टि से कुंती पाप की मुक्त कंठ से स्वीकृति देती हैं । 'जयभारत' में कुन्ती का वात्सल्य विकसित हुआ है । कुन्ती युद्ध को अवश्यंभावी देखकर उसे रोकने के लिए स्वयं कर्ण के पास जाती है । उस प्रसंग में कुन्ती का आहत वात्सल्य व्यंजित होता है । कर्ण की महत्ता को प्रकट करती हुई वह उसे मनाने के लिए स्नेह और नम्रता से भी प्रयत्न करती है। हिडिम्बा सर्ग में भी वत्सलता प्रकट हुई है । इससे स्पष्ट है कि कुन्ती परदुःख कातर और सहृदय नारी भी है । उनके चरित्र के ये गुण उन्हें उज्जवल बनाने में सहायक गुण हुए हैं । 'जयभारत'की कुन्ती भगवान श्री कृष्ण के प्रति आस्थावान और भक्तिभाव प्रदर्शित करनेवाली है । वे कृष्ण के ईश्वरीय रुप पर विश्वास करती है और हर संकट की घड़ी में उनका स्मरण कर मानसिक शक्ति का लाभ करती है । 'बंधुविद्वेष' सर्ग में दुर्योधन के दृष्टचक्र के कारण भीम जब वन से लौटकर नहीं आते तब उस समय कुंती ईश्वर पर भरोसा करते हुए भीम के लिए दुआ मांगती है –

''हरे ! और भी एक मुझे यह हुआ भरोसा तेरा,
जो करना है तुझे, उसीमें हित होना है मेरा ।''(140)

कुंती के मातृत्व - रुप का उद्‌घाटन गुप्तजीने उन्हें पंच पांडवों के साथ कर्ण की ममतामयी माता माना है । यहाँ अपने परित्यक्त कानीन पुत्र से उन्हें तिरस्कृत नहीं होना पड़ता । 'रंगभूमि प्रसंग' में शस्त्र परिक्षा के अवसर पर ये खुलकर उस रहस्य को बता देना चाहती है कि 'कर्ण उन्हीं की संतान है, किन्तु मुर्छित होने के कारण वे बता नहीं पाती ।

''शस्त्र परिक्षा के दिन ज्यों ही सुत-पूत्र तू कथित हुआ,
एक साथ ही मेरा मानस व्यथित भाव से मथित हुआ।
मैं चिल्लाने चली - 'नहीं, यह मेरा सुत है, मेरा ही !
किन्तु डूब-सी गई उसी क्षण, दीखा मुझे अँधेरा ही ।''(141)

कुंती यहाँ कर्ण को न तो कोई प्रलोभन देकर अपने पक्ष में मिलना चाहती हैं, और न किसी याचना के द्वारा उन्हें धर्म-संकट में डालना चाहती हैं ।

''डालूँगी न धर्म-संकट में हीन याचना करके मैं .''(142)

इस काव्य में कुंती कर्ण की धर्म-माता अधिरथ की पत्नी राधा के प्रति विशेष आदरभाव रखती हैं । कुंती अपने को देवकी के समान मानती हैं और राधा को ही सच्ची माँ अर्थात् यशोदा का गौरव प्रदान करती है ।

''जैसे तू जाने, राधा पर प्रीति प्रकट करना मेरी,
मैं दुःखिनी देवकी-सी हूँ, वही यशोदा माँ तेरी !''(143)

'शांति संदेश' सर्ग में कृष्ण शांतिदूत के रुप में हस्तिनापुर जाते हैं ओर लौटते समय कुन्ती से मिलते हैं । इस प्रसंग में कुंती कृष्ण से कहती है कि सर्वस्वहरण काल में उन्होंने हरिस्मरण में दिन काटे हैं ।

''समपद है, जो विपद लगा दे हरिस्मरण में,
मेरा सम्बल रहा यही सर्वस्व-हरण में ।''(144)

गुप्तजीने अनेक प्रसंगो द्वारा कुंती की कृष्णभक्ति स्पष्ट करते हुए उन्हें एक आस्तिक महिला के रुप में चित्रित किया है । कुंती कर्म को ही धर्म मानते हुए क्षत्राणीयोचित विचार व्यक्त करती है । कुंती के अपने वीर पुत्रों को कृष्ण द्वारा संदेश में कहती हैं –

''आया वह अवसर आप यह, प्रस्तुत हो इसके लिए,
क्षत्राणी पीड़ा प्रसव की सहती है जिसके लिए।''(145)

युद्ध के अवसर पर कुंती को क्षत्रिय धर्म से बड़ा कर्म लगता है, इसलिए वे अपने बेटों को युद्ध के लिए प्रेरित करती है । अंत' सर्ग में जब विदुर, धृतराष्ट्र और गांधारी आदि युद्धों के लिए साथ वन में प्रस्थान करने लगी, तब जाते समय कुंती ने युधिष्ठिर को कर्तव्य बोध तथा लोककल्याण का संदेश दिया है । वन जाते समय कुंती ने अपने जेठ-जेठानी की सेवा को कर्तव्य माना है , उसी प्रकार पाण्डवों को भी प्रजा की सेवा करने का मुख्य कर्तव्य बताया है ।

''अब मेरा कर्तव्य यही है, जिसको मैं करती हूँ,
जेठ - जेठानी सेव - व्रत नत सिर पर धरती हूँ।
तुम भी स्वकर्तव्य पालन कर करो लोक का लालन,
कातराश्रुओं से न करो यों मेरा पद-प्रक्षालन ।(146)

'हिडिम्बा' नामक खण्डकाव्य में भी यही कुंती हिडिम्बा जो एक राक्षसी है पर उसकी शालीनता को देखकर वह इतनी संतोषित हो उठती है कि उसे 'बेटी' कहकर उपदेश देती है । यहाँ कुंती का वात्सल्य चरमसीमा को पहुँच जाता है ।

''बेटी, मैं सुनूँगी सब, जो कुछ कहेगी तू, ''(147)

कुंती हिडिम्बा की असहायता और बुद्धिमत्ता से वे अतीव प्रभावित होती है और उसे सोच-विचार के बाद 'हिडिम्बा' को 'पूत्रवधू' के रुप में स्वीकृत करने के लिए प्रस्तुत होती है ।

''तूझ-सी बहू भी मुझे सहज मिली अहा !
पूर्ण काम हो तू'' यों उन्होंने उससे कहा ।'' (148)

गुप्तजी की शरणागत वत्सलता व्यक्त हुई है । पुत्र वात्सल्य माँ को कितना आतुर बना देता है उसका चित्रण कवि ने उपस्थित किया है । इस आधुनिक नारी - चित्रण को हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते हैं — ''नारी ने अपने समानाधिकार के दावे के साथ साहित्य में प्रवेश किया है और द्रढ़ तथा उदात्त कंठ से पिछली शताब्दी की कल्पित, अवास्तविक नारी-मूर्ति के चित्रण का प्रतिवाद किया है ।'' (149)

कुन्ती का चरित्र-चित्रण कवियों के मानवतावादी द्दष्टिकोण के प्रभाव से नारी के व्यक्तित्व को अधिक शक्तिशाली चित्रित किया है । धिक्कृत पात्रों का परिष्कार भी इसी सुधारवादी मनोवृत्ति के कारण संभव हो सका है ।

निष्कर्ष है कि गुप्तजीने कुंती के त्याग, भक्ति, दयालुता, करुणा और वात्सल्य भाव के संस्थापन द्वारा उनके चरित्र को श्रद्धेय बनाया है । उनके वात्सल्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है तो कहीं वह ममतामयी माँ के रुप में आँसू बहाती है, कहीं कर्ण के पास अपना अपराध स्वीकार कर कर्ण के कठोर वचनों के बाद लौटती है, कहीं वह गंभीर होकर संवेदनशील माँ के रुप में कर्ण के पास गई और अनेक तर्कों द्वारा कर्ण को निरुत्तर कर देती है । इस प्रकार आलोच्य काव्यों में नाना रुपों में इनके मातृत्व पर प्रकाश डाला है । कुंती के व्यवहार से स्पष्ट होता है कि समय के अनुसार अपने को ढालने का प्रयत्न करना चाहिए । उसके व्यक्तित्व में मन के ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा क्रियात्मक पहलुओं का सुन्दर समन्वय मिलता है । समय-समय पर तर्क शक्ति का उपयोग है । भारतीय परंपरा की प्रतिष्ठा को संभलते हुए उसमें समय के अनुसार जो परिवर्तनशीलता ज्ञात होती है, वह नीतांत उल्लेखनीय है ।

शकुन्तला :-

शकुन्तला **महर्षि विश्वामित्र** (मुनिवर कौशिक) और अप्सरा मेनका की पुत्री है । शुक्ल द्वितीया में उसका जन्म हुआ । अप्सरा (मेनका) पुत्री को छोड़कर वापस चली गई । माता-पिता से परित्यकता होने पर मुनीश्वर कण्व इसे आश्रम ले जाते है उन्होंने उसका लालन पालन किया । गौतमी जो तपस्विनी थी उसने इसे प्रेमपूर्वक पाला । आश्रम की नवलतिकाओं के साथ-साथ बड़ी होती है । उसका सहज सौंदर्य भी अलौकिक है । वह प्रखर बुद्धिमती एवं सद्‌गुणों की मानो खान है । उसके रुप सौरभ से सारा वन महक उठता है । शकुन्तला प्रेमभरे व्यवहार से सभी को खुश रखती है । यहाँ तक कि पशु-पक्षी भी उसके शुद्ध आचारों से सुख पाते है ।

''रखती थी प्रेमार्द्र सभी को वह अपने व्यवहारों से ;
पशु-पक्षी भी सुख पाते थे उसके शुद्धाचारों से ।।''(150)

वह सरल एवं सुकुमारी बालिका है । वह विशेष उत्साही रहती है । पिता के धार्मिक कार्यो में सहायता देना, पेड-पौधों में पानी देना, पशु-पक्षियों को खिलाना और खेलना उसके दैनिक कार्य है । कभी खगों और कभी मृगों के बच्चों की सुध लेती थी, कभी तोते को पढ़ाती, कभी मयूर नचाती, कभी अपनी सखियों के संग खेलती थी । अर्थात औरों का कल्याण कार्य ही करती थी । इसी प्रभाव के कारण क्रुर पशु भी उसके सम्मुख आकर अपनी क्रूरता भूलकर पैरों में पड़ जाते थे । आतिथ्य सेवा का पूरा भार भी उस पर ही होता है । वह बुद्धिमती होने की वजह से अनायास ही पाठ याद कर लेती थी, और देव-देवियों के प्रेम चरित्र जब गाती तब ऐसा प्रतीत होता मानो मालिनी नदी भी थम गई हो । प्रकृति और वन के सभी उपकरणों से उसने कुछ ने कुछ ग्राह्य किया है । जैसे हंस और मीनों से तैरना, शीतल और सुगन्ध पवन से मन्द-मन्द विचरना, होम-शिखा से सद्‌भाव, आश्रम से अन्य लोगों का कल्याण करना सिखा था । उसका जीवन निर्मल था, तन उषा के प्रकाश-सा पावन, और मन हिमालय जैसा उज्जवल, उच्च और अति उन्नत था । तपोवन उससे धन्य था । गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा वह बड़े मन से, लगाव से, भक्ति से करती थी ; उनका आदर सम्मान कर उन्हें जलपान कराती थी । तपोवन में जो भी अतिथि आते आदर-सन्मान पा-कर शकुन्तला की दिल खोलकर उसके सद्‌गुणों की प्रशंसा कर जाते थे । कोई भी कार्य करने में उसे हंमेशा नया उत्साह रहता था ; उसमें दया और ममता का प्रवाह निरन्तर बहता था । जैसे-जैसे शकुन्तला बड़ी होती है वैसे-वैसे पिता कण्व का प्यार उसके लिए बढ़ता ही है । और जब युवा होती है तो उसके ब्याह की बात का ख्याल आता है कि इसके योग्य कहाँ से वर आएगा । शकुन्तला विवाह की चर्चा होने पर लज्जित हो जाती और तब केवल सिर नीचा करके मुसकुरा देती थी । युवावस्था आने पर वह स्वयं अपना शरीर देखकर सकुचाती है और मन ही मन खुश होती है । फूलों के गहने पहनती तो सुकुमारी ऐसी जान पड़ती मानों जमीन पर दिव्य लोक की नई नवेली नारी उतर आई हो ।

एक दिन मुनीश्वर कण्व सोमनाथ की तीर्थ यात्रा करने हेतु जाते है । आश्रम का सारा कारोबार शकुन्तला को सोंपते है । उन्हीं दिनों राजा दुष्यन्त आते हैं । राजा दुष्यंत शकुतला का सौन्दर्य देख मुग्ध हो जाते है और राजा का सौन्दर्य एवं व्यक्तित्व देखकर शकुन्तला भी मोहित हो जाती है । उस अनोखे अतिथि को देखकर उसने शीघ्र ही अपना हृदय दे दिया ।

''हुई मुग्ध शकुन्तला भी नृपतिवर को देख,
मान देता था जिन्हें अमरेन्द्र भी सविशेष ।
उस अनोखे अतिथि को, आतिथ्य में चुपचाप,
दे दिया उसने हृदय भी शीघ्र अपने आप ।।''(151)

शकुन्तला को प्रेम का आकर्षण इतना बढ़ जाता है कि बेहोशी में वह राजा को पत्र लिखने बैठती है । उनसे मिलने के लिए वह व्याकुल हो उठती है । दुष्यन्त के बिना जीवित रहना उसके लिए दुष्कर बन जाता है । वह श्रृंगार प्रिय होने के कारण नित्य नये-नये श्रृंगार करने में ही निमग्न रहने लगती है । वह इतनी अनुरक्त हो उठती है कि दुष्यंत के साथ गान्धर्व विवाह करने के लिए प्रवृत्त हो जाती है ।

''होकर अति सिद्ध विशुद्ध प्रेम के तप में,
करके गान्धर्व विवाह लता-मण्डप में ।
दोनों प्रेमी कृतकृत्य हुए निज मन में,
वह मौन तपोवन पलट गया उपवन में ।''(152)

विवाह के पश्चात् आमोद-प्रमोद में समय बिताने लगती है । कभी पुष्पों की मालाएँ गूँथती है और एक दूसरे को पहनाते है तो कभी दोनों मिलकर पौंधो को पानी देते हैं । आश्रम से जब दुष्यन्त जाने लगे तब शकुन्तला ने कहा – ''प्राणेश्वर ! अब कब '' कण्ठ हुआ गदूद-सा ।'' तो दुष्यन्त ने उसे नामांकित मुद्रिका पहनाई और मिलने की अविध बताई ।

''प्रतिदिन तू मेरा एक नामाक्षर - गिनती रहना हे प्रिये ! सु-निश्चय रखकर ।
जब तक सब अक्षर धन्य गण्य हों तेरे-लेने आवेंगे तुझे योग्य जन मेरे ।''(153)

शकुन्तला को सांत्वना देकर दुष्यन्त हस्तिनापुर चले गए । पर शकुन्तला अस्थिर सी उनके ध्यान में मूर्ति बनी रह गई । दुष्यन्त के जाने के पश्चात उसकी अवस्था अत्यंत विचित्र-सी हो जाती है । उसके ही ध्यान में हंमेशा लीन रहने लगती है । मानो वसन्त के विरह में पीड़ित कोई वनदेवी सी लगती है । विरह में इतनी सुध-बुध हुई है कि अपने पिता के आने की सुधि तक उसे नहीं है –

''होने से प्रिय-प्रेम-मुग्ध उसने आते न जाना उन्हें,
वैसी ही अतएव निश्चल रही मानों न माना उन्हें ।''(154)

पिता अपमान समझकर क्रोध में आकर उसे शाप देने लगे सखियों ने मुनि से क्षमायाचना की तब शान्त होकर बोले - ''आवेगी सुध मुद्रिका निरख के उद्भ्रान्त दुष्यन्त को ॥''(155) मुनिवर को जब वृतांत मालूम होता है तो उन्हें मन में संतोष होता है कि वह पुत्री के लिए जैसा वर चाहते थे वैसा स्वयं पा लिया है । शकुन्तला को आभूषणों से सजाकर विदा देते हैं । शकुन्तला बिदा होती है उस समय उसे प्रियतम के दर्शन का उत्साह है पर साथ-साथ अपने स्वजनों के विरह का भी दुःख है । मुनि पिता के विरह सहने का धैर्य उसमें नहीं है । पिता उसे आशीर्वाद एवं उपदेश देते हैं । क्रंदन करते हुए वह उनके पैरों में गिर पड़ती है और अत्यंत करुणा से पूछती है – ''होगे कब हे तात, तपोवन के दर्शन फिर ?''(156)

दुष्यन्त का शकुन्तला से विवाह हुआ था यह बात राजा को विस्मरण होने पर शकुन्तला को बड़ा आघात पहुँचता है । उसकी अंगूठी भी रास्ते में तीर्थ का जल पीते समय ही उसके हाथ से गिर जाती है ।

> ''अपने कर की ओर दृष्टि तब शकुन्तला ने डाली,
> पर अभाग्य, सूनी थी अँगुली नाम मुद्रिका वाली ।''(157)

बहुत प्रयत्न करने पर भी दुष्यन्त को याद नहीं आता तो वह कोमल बाला भी कठोर रुप धारण कर लेती है । दुष्यंत की कठोरता को देख शकुन्तला व्याकुल हो कर कामदेव का बाण तोड़ देती है और अत्यंत प्रक्षुब्धता धारण कर लेती है । शकुन्तला गर्भवती है । मुनि-शिष्य और तपस्विनी गौतमी गर्भिणी शकुन्तला को छोड़ कर वन को चले जाते है । पृथ्वी में समा जाने का ही एकमेव मार्ग उसके लिए रह गया है । कहती है –

> यही कहा उसने कि – ''कहाँ अब मैं अभागिनी जाऊँ ?
> माँ धरणी ! तू मुझे ठौर दे, तुझमें अभी समाऊँ ?''(158)

तब मेनका अप्सरा उसे हेमकूट पर्वत पर कश्यप मुनि के आश्रम में रख देती है । वहाँ वह अपने पुत्र सर्वदमन के सहित गुजारा करती है । वहीं पर एक दिन दुष्यन्त से शकुन्तला की भेंट होती है । दुष्यंत शकुन्तला के पैरों में गिर पड़ते है तो वह क्षमा रुप धरके कहती है –

> ''उठो नाथ ! वह कुछ न तुम्हारा दोष था,
> मुझ पर ही अज्ञात दैव का रोष था ।''(159)

अर्थात - हे नाथ उठो, इस में किसी का भी दोष नहीं है , मेरा ही न जाने कौन-सा दुर्भाग्य था, ईश्वरीय कोप था, जो हम दोनों को यह कष्ट सहने पड़े ।

शकुन्तला यहाँ अत्यंत संवेदनशील ज्ञात होती है । वह एक आदर्श ललना एवं पतिव्रता है , परन्तु इसमें कामासक्ति अधिक दीख पड़ती है । उसकी श्रृंगार प्रियता के कारण ही उस पर आपत्ति आती है । प्रेम और भय का सुन्दर समन्वय उसके चरित्र में दीख पड़ता है । अधिकतम व्यवहार बच्चों के जैसे ही दीख पड़ते है । इसमें भारतीय नारी की सांस्कृतिक चेतना का भव्य दर्शन होता है । नारी की मर्यादा, ममता, दया, करुणा, क्षमाशीलता, कर्तव्यनिष्ठा एवं पातिव्रत्य को अपनी वैचारिक भूमि पर कवि ने सिद्ध किया है । मानव-मन की मूल प्रवृत्ति प्रेम की, मनोवैज्ञानिक आधार पर अभिव्यंजना, एक पौराणिक अन्र्तकथा के उद्घाटन द्वारा मानवीय अनुभूतियों ओर संस्कारों तथा नारी के उज जवल पक्ष का प्रस्तुतीकरण ही इसका उद्देश्य है ।

विघृता :-

श्रीमद्‌भागवत के दशमस्कन्ध के तेईसवें अध्याय में एक कथा और है जो एक ही श्लोक में कह दी गई है । जिसमें विधृता का निरुपण हुआ है । एक ब्राह्मण ने बलपूर्वक अपनी वनिता को रोक लिया । नैवेद्य समर्पण तो दूर, वह भगवान के दर्शन भी न पा सकी । इस दुःख से उसने शरीर छोड़ दिया ।(160) गुप्तजी ने इसे अपनी कल्पना के सहारे 29 छंदों में विस्तृत किया है । और उसके माध्यम से तत्कालीन समाज में प्रचलित पति-पत्नी की स्थिति का निरुपण किया है। विधृता के पति उसके शील के बारे में जो संशय प्रकट करते हैं, उसके फलस्वरुप ही वह अपना आत्म-समर्पण कर बैठती है । पति का इस प्रकार संशय शान्ति से रहनेवाली नारी यह नहीं है । वह पुरुषों की गलतियाँ स्पष्ट करने वाली धैर्यशालिनी एवं विद्रोहिनी है । वह अपनी पतिव्रता प्रकट करती है – 'तन न जाय. पर मन तो मेरा अपनी गैल गया है ।' (161)

विधृता ब्राह्मण पत्नी है , दान करना उसका धर्म है और घर पर आया हुआ अतिथि उसके लिए देवता के रुप में है । पर उसके इस धर्म में बाधा उसका पति ही डालता है । वह अपने पति धर्म के बारे में विचार भी प्रकट करती है । अपने घर से अतिथि भूखा जाय जो बालक है । वह हाथ फैलाये आया था तो तूम्हारा धर्म था कि तुम उसे कुछ देते । मैं उसे देकर कोई पाप तो नहीं कर रही थी । इस तरह वह अत्यधिक नम्रता से एवं धैर्य बाँधकर पति से पाप के विषय में वार्तालाप करती है । विधृता के मन में इतनी खलबली मच जाती है जिसके फलस्वरुप वह नारी जाति के स्वत्य की समस्या उठाने का प्रयास करती है । वह मन ही मन क्रोध की ज्वाला से जलती हुई कहती है कि ''कुछ भी स्वत्व नहीं रखती क्या अर्द्धांगिनी तुम्हारी ?''(162) मैं तो भूखों को भोजन देने जा रही थी पर तुमने शंका की नज़र से देखा । पति परायणा नारी पर जब पति ही अविश्वास करता है तब उसकी मन की यह प्रतिक्रिया अत्यंत मनोवैज्ञानिक प्रतीत होती है । मैथिलीशरण गुप्तजी ने विधृता के माध्यम से पुरुष प्रधान भारतीय समाज की प्रताड़िता एवं अपमानित नारी की मर्म वेदना एवं उसकी प्रखरता प्रतिक्रिया को मुखरित करने का सफल प्रयोग किया है । 'विधृता' नारी के आदर्श की ओर प्रकाश डालते हुए कहती है कि संसार में केवल 'वासना' ही सर्वश्रेष्ठ नहीं है । अतः विधृता शारीरिक भूख को अत्यधिक महत्व नहीं देती । इसलिए वह कहती है –

''हाय ! वधूने क्या वर-विषयक एक वासना पाई ?
नहीं और कोई क्या उसका पिता, पुत्र या भाई ?''(163)

विधृता की अपेक्षा और भी कई प्रकार की विभिन्न जीवन सम्बन्धित प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनकी सहायता से रोज के व्यवहार चलते हैं । वह इस बात पर भी व्यंग्य करती है कि मनुष्य निरन्तर नारी का नग्न रुप ही क्यों देखता है । माँ, बेटी और बहन आदि संबंधियों के साथ भी नारी का जगत में रुप है , यह वह क्यों भूल जाता है ।

''नर के बाँटे क्या नारी की नग्न-मूर्ति ही आई ?
माँ बेटी या बहिन हाय ! क्या संग नहीं वह लाई ?''(164)

अन्याय के प्रति विद्रोही बनना ही वह उचित समझती है । घर पर आए हुए अतिथियों का अपमान उसको असह्य होता है । वह कृष्ण से मिलने की चेष्टा करती है, किन्तु उसके पति उनका संयोग या भेंट नहीं होने देते वह असफल सिद्ध होती है । उसको अत्यंत मनःस्ताप होता है । विधृता अत्यंत कर्तव्यनिष्ठ ज्ञात होती है । प्राचीन सभ्यता की पृष्ठ भूमि पर अपना आदर्श निर्माण करती है । वह पति से कहती है कि निरन्तर धर्म का बोलबाला करना ही सही धर्म नहीं है । वह हतबल होकर व्यंग्य प्रकट करती है कि 'इसमें आपका दोष नहीं है, युग विशेष के कारण यह सारा घटित हो रहा है ।' वह अपने भाग्य को ही कोसती है । पति के विपरीत व्यवहारों को देख वह अब अत्यंत प्रक्षुब्ध हो उठती है परन्तु यह क्षोभ पति के प्रति न होकर प्राचीन परंपराओं के विरोध में है । वह व्यर्थ कर्मकाण्ड को परम कर्तव्य समझती है । विधृता कृष्ण के प्रति इतनी आकृष्ट हो जाती है कि अब दोनों एक होकर एकाकार हो जाते है । अतः वह कहती है कि कृष्ण के साथ मन का एकाकार होने पर शरीर का मूल्य कुछ भी नहीं है । विधृता का कृष्ण वही है जो वेदों में वर्णित है । वेदों पर विश्वास एवं श्रद्धा रखनेवाले अपने पति से वह कहती है कि

''क्या तुम्हें वेद में नहीं मिला वह ? तुम हो वेदज्ञानी ;''(165)

नारी की विशेषता यह है कि वह कुष्ठाग्रस्त होते हुए भी अपनी मर्यादा का पालन करती है । पति की आज्ञा वह सर्वश्रेष्ठ मानती है । इस तरह कवि ने विधृता की विचित्र मनःस्थिति का चित्रण करते हुए उसकी ममता, उदारता एवं उसके आत्मविश्वास पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है । पति के प्रति आदर अवश्य है पर पति पाखंडी और धर्मपालन न करने की वजह से वह विद्रोहिनी है । उसका विश्वास है कि कर्मकाण्ड करने से ही मनुष्य श्रेष्ठत्व को नहीं पहुंचता, उसे कर्मकाण्ड करने से पहले आत्म परीक्षण करने की भी आवश्यकता होती है । अन्त में विधृता नारी महत्ता को बताते हुए कहती है कि नारी के प्रति नर का अविश्वास क्यों ? क्या नर घर का स्वामी है इसलिए उसके सभी दोष क्षमा योग्य हैं । नारी के दोष शीघ्र ही समाज के सम्मुख आते है और किसी भी प्रकार का क्षमाशील नहीं होता है । यह आरोप विधृता अपनी अंतर्वेदनाओं से पीड़ित होकर नर जाति पर करती है । नारी की मातृत्व रुप की चर्चा करते हुए

तथा विधृता के मुख से आक्रोश प्रकट करते हुए लिखा कि आज नर जिस नारी पर अविश्वास करता है, उस अविश्वासी पुरुष को जन्म देनेवाली यही नारी है । वह पत्नी होकर जननी भी है ।

''अविश्वास, हा ! अविश्वास ही, नारी के प्रति नर का ;
नर के तो सौ दोष क्षमा हैं, स्वामी है वह घर का !
उपजा किन्तु अविश्वासीनर हाय ! तुझी से नारी !
जाया होकर जननी भी है , तू ही पाप - पिटारी ।''(166)

वह आगे कहती है कि आर्य नारी को चाहिए कि वह अन्याय के समक्ष कभी न झुके । यदि अन्याय के विरुद्ध लडते हुए उसे प्राण भी देने पड़े तो प्राणों का भी बलिदान करके उसे अपनी सुयश-पताका को उन्नत रखने का प्रयास करना चाहिए । कवि ने इसी कारण अपने युगान्तकारी नारी सम्बन्धी विचारों को 'विधृता' के मुख से इस तरह कहलवाया –

''जाती हूँ, जाती हूँ अब मैं, और नहीं रुक सकती ;
इस अन्याय-समक्ष, मरूँ मैं, कभी नहीं झुक सकती ।
किन्तु आर्य - नारी, तेरा है केवल एक ठिकाना ;
चल तू वहीं, जहाँ जाकर फिर नहीं लौटकर आना ।''(167)

विधृता आत्मशान्ति के लिए अपने प्राण त्यागकर भारतीय सभ्यता के परंपरा की सुरक्षा करती है ।

निष्कर्ष यह है कि विधृता एक ममतामयी नारी के रुप में भी प्रस्तुत होती है । कवि ने पौराणिक एवं प्राचीन पात्र होते हुए भी आधुनिक नारी जाति के संशयग्रस्त वर्ग के प्रतीक के रुप में अंकित करने का उल्लेखनीय प्रयत्न किया है । स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व सामन्ती प्रवृत्ति के कारण नारी पर अनेक प्रकार के अत्याचार होते थे । उसका समाज में कोई विशेष अधिकार न था । वह जाया एवं जननी होते हुए भी परिवार में उसका कोई महत्व नहीं समझा जाता । प्रायः पत्नी को दासी समझा जाता था, वह पुरुष की वासना-पूर्ति का साधन मात्र मानी जाती थी और प्रत्येक व्यक्ति की द्रष्टि में नारी की नग्न मूर्ति ही समाई रहती थी, परन्तु उस समय सुधारवादी संस्थाओं के द्वारा नारी की महत्ता को स्थापित करते हुए 'विधृता' का उपाख्यान कवि की उर्वर कल्पना है । मनुष्य नारी के प्रति कितना संशयी, अविश्वासी तथा उदासीन रहता है यही मुख्य उद्देश्य कवि ने विधृता के माध्यम से स्पष्ट किया है ।

विष्णुप्रिया :–

विष्णुप्रिया गौर की पत्नी है, उसकी जीवनकथा संयोग, श्रृंगार, निरवधि वियोग, पुनर्मिलन और वैधव्य के खंडो में विकसित हुई है । विष्णुप्रिया एक विद्वान और राजमान्य कुलीन की कन्या है ।

गौर की माता शची को गंगा-स्नान करते समय प्रणाम किया करती है । एक बार उसकी सखी मज़ाक में कहती है कि गौर उसीके योग्य वर है । उसके हृदय में पूर्व-राग का उदय होता है और मन में श्रद्धा भाव । वह कहती है –

''हाय सखि, तूने यह क्या कर दिया अभी,
कैसी एक हूक-सी उठा दी इस उर में ।''(168)

उसका प्रेम बढ़ता जाता है । विष्णुप्रिया और गौर का विवाह-संस्कार धूम-धाम से होता है । घर में प्रवेश करते समय विष्णुप्रिया के अँगूठे में ठोकर लगती है । पर उसके मुँहसे आह तक नहीं निकलती है ।

''मानो उस देहली को देके बलि पहली
घूँघट में ओंठ चाँपे, आह न की उसने ।''(169)

'त्याग पर तेरी नींव टिकी' वधू के इस आदर्श को उसने उज़ागर किया है । सांसारिक जीवन में वधू अपने को भूलकर वह परिवार के सदस्यों में अपना प्रेम उमड़ती है और पतिदेव पर अपना सब कुछ वार देने को तैयार होती है ।

''देने को प्रस्तुत हूँ मैं तो अपना जीवन-गार,
वार दिया पहले ही मैंने तुझ पर सब घर बार ।''(170)

विष्णुप्रिया का कुछ समय आनंद-विनोद में गुजरता है । कुछ समय पश्चात पति गौर पिता का गया श्राद्ध करने चल पड़ते है । माता से आज्ञा लेनें के पश्चात् वह अपनी प्रिया के पास आज्ञा हेतु आते है और कहते है कि तुम्हारे लिए क्या लाऊँ ? विष्णुप्रिया कहती है कि उसे पुत्रवती होने की कामना है । गौर के जाने के बाद विष्णुप्रिया मन ही मन गुनगुनाती है कि 'घर भी उदास हुआ विश्वम्भर के बिना ।' (171) सास-बहु गौर का कुशल मनाती है। विष्णुप्रिया अपनी सास से विविध कथाएँ सुनती है और वह उन्हें पद-भजन सुनाती है । एक दिन सखी का आगमन होता है और विष्णुप्रिया उससे कुशल-मंगल पूछती है। सखी के पूछने पर कि अब तू तो अपनी कह, तो वह कहती है कि

''मूल्यभर सकने की बात भला क्या कहूँ, उसकी निछावर के योग्य भी कहाँ हूँ मैं ?''
राम जाने, कैसा परिणाम होगा अन्त में । मेरा मन काँप उठता है बीच बीच में ।'' (172)

इस तरह विष्णुप्रिया प्रेम की चर्चा करती हुई गौर के महत्व से अभिभूत होकर दैन्य प्रकट करती है । वह पति-प्रेम को पाकर अपने को कृतार्थ अनुभव करती है । विष्णुप्रिया अपने पति के लौटने में विलम्ब होने से उसकी उदासी बढ़ती जाती है वह कहती है कि गंगा उनकी प्यासी है पर अब तक प्रवासी लौटेनहीं है । गौर

पुणाय कार्य पूरा कर घर लौटते है पर वे विष्णुपद-दर्शन से सुध-बुध भूले हुए हैं । माता आदि को प्रणाम कर प्रिया की सराहना करते हुए कहते हैं कि जननी की सेवा देकर गया था तूमने इसे सँभाला है इसलिए जो कुछ भी मैंने पाया है वस्तुतः तुम्हारा ही दिया है क्योंकि अम्बा को छोड़कर जाना सम्भव न था । अब आगे भी मुझे चिन्ता नहीं है । तब विष्णुप्रिया प्रश्न करती है मेरी चिन्ता कौन करेगा ? गौर निरुत्तर हो उसे गले से लगा लेता है । प्रभुपदमें लीन गौर हुए हैं । विष्णुप्रिया की पूत्रवती होने की कामना अधूरी ही रह जाती है । गौर राधा-कृष्ण का कीर्तन करने में इतने मग्न हो जाते है कि वे अचेत होकर गिर पड़ते है । तब नित्यानन्द उन्हें सँभालते है पर चोट विष्णुप्रिया सहती है । विष्णुप्रिया का प्रेम उनकी रक्षा-कामना व्यक्त करती है कि वह ''सुध भूले, भटके नहीं मेरे भोलानाथ''(173) इस तरह वह सहधर्मिणी के आदर्श का पालन करती है । पर गौर ने जब गृहत्याग करने का निश्चय किया तो विष्णुप्रिया विह्वल हो उठती है । वह गौर के पैरों में गिर पड़ती है और रोती हुई कहती है कि क्या ''रो रोकर मरना ही नारी लिखा लाई है ।''(174) मुझे कुछ नहीं चाहिए तुम्हें दूर से प्रति दिन देख सकूँ इसलिए तूम घर मत त्यागों मैं ही मायके सदा रहूँगी । जिससे गंगास्नान करने को जब तुम जाओगे तो दूर से ही जाते आते तूम्हें देख लूँगी । नारी पति की खातिर अपना सबकुछ त्याग करने को तत्पर होती है । विष्णुप्रिया सिर्फ पति दर्शन से ही तृप्त होना चाहती है । वह गौर से आगे कहती है कि

''मेरी मति और गति केवल तुम्हीं-तुम्हीं ।
किसके शरण जाऊँ, आज मैं अभागिनी ?
मेरे प्राण माँग लो, प्रणय ही न न माँगो यों ।''(175)

तब गौर उससे कहते हैं कि ''नर क्या करेगा त्याग करती है नारी ही ।''(176) आखिर विष्णुप्रिया कहती है कि ''मेरे भाग्य मुझमें मुँदें तो खुलें सबमें ।''(177) पर गौर विष्णुप्रिया को सुलाकर प्रस्थान कर जाते है । विष्णुप्रिया जब चौंककर जाग उठती है तो देखती है कि गौर नहीं है तो वह बड़ी दुःखी होकर कहती है मैं छली गई हुँ । खुद जागकर मुझको सुला के वे छिपकर भाग गये । मैं समझती थी कि वे विदा लेंगे और मैं उन्हें पूजकर विदा करूँगी पर उन्होंने मुझे इतनी भी सान्तवना नहीं प्राप्त होने दी । वह अपनी सास को बताती है कि ''अम्ब अम्ब, धन ही लुटेरा बना अपना ।''(178) तो अम्बा घबराई हुई चोक में ही गिर पड़ती है । विष्णुप्रिया कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर साँस को संभालती है । वह कहती है कि अम्ब वह जहाँ भी जायेंगे हरिनाम सुनायेंगे । ओर अपना भी अब वही नाम अवलम्ब है । अर्थात हम दोनों हरि नाम के सहारे जीवन व्यतीत करेंगे । पर दोनों को एक ही संताप है कि गौर विष्णुप्रिया की गोद भरकर न गए । विष्णुप्रिया कहती है मेरी गोद भरी होती तो खाली दिन सह लेती पर मैं अपने हृदय की बात भी किससे कहूँ ।

गौर के गृहत्याग के बाद सास के सँभालने व आजीविका अर्जन करने का उत्तरदायित्व उस पर आ जाता है , पर न तो वह अपना मनोबल खोती है और न हार मानती है । उसका चरित्र क्रमशः प्रकर्ष को प्राप्त करता जाता है । नित्यानन्द सास-बहु को गौर की एक बार भेंट करा देने का आश्वासन देते है । यहाँ से विष्णुप्रिया के विरह की शरुआत है – वह प्रिय की सुधि को जीवन-संगी बनाती है । उसका वियोग सकरुण और जीवन व्यापी है । ''नारी पर नर का अत्याचार है ।''(179) समाज के इस आरोप का विरोध करती है । वह अपने पति के प्रति करुणामयी हो उठी है, उसकेउदात चारित्र्य यही कहता है कि यह उनकी प्रभु-प्रीति का दोष है, वे तो सुध-बुध भूले हुए हैं । वे तो हरि-नाम के द्वारा समस्त समाज का उद्धार करना चाहते हैं । सास की सेवा का कर्तव्य-पालन होने से वह अपने दैन्य भरे निराश जीवन को त्याग भी नहीं सकती । नित्यानन्द गौर से मिलने के लिए पालकी लेकर आते है । विष्णुप्रिया भी सास के पीछे चल देती है तो नित्यानन्द ससंकोच कहते हैं कि उन्होंने बहु को साथ लेने से रोका है तब अम्बा भृकुटि चढाएँ कहती है कि अब उसे क्या अधिकार है रोकने का ? बहू नहीं तो मैं भी नहीं जाऊँगी । तब विष्णुप्रियाने ही उनके पैर में पड़ कर कहा कि –

''जो कुछ उन्होंने कहा, ठीक ही कहा है माँ ।
मेरा वहाँ जाना अब होगा अनुचित ही ।''(180)

विष्णुप्रिया को क्षोभ भी सालता है कि वह पति को सँभाल न सकी । माता शची पुत्र को देख दुःखी रोती ही लौट आई । विष्णुप्रिया स्वावलंबी जीवन स्वीकार करती है । वह सास से कहती है हम सूत कातकर अपना जीवन निर्वाह करेंगे । गुप्तजीने नारी की उत्कृष्ट मनोभावना को व्यक्त किया कि वह स्वावलंबी है, दूसरे के उपर आधारित नहीं रहना चाहती । विष्णुप्रिया कहती है –

''कर लेंगी हम किसी प्रकार, इतना श्रम जिससे हम दोनों
न हो किसी पर भार ।''(181)

विष्णुप्रिया प्रातःकाल से रात्रि तक अपने को काम में उलझाए रखती है । रात रहते ही उढ घर का सारा काम कर, गाय की भी स्वयं देखभाल करती है । सास-बहु साथ में ही गंगा-स्नान करती है । गंगा में कंठ तक खड़े होकर ध्यान करती है तो उसे गौर ही दीखते है । वहाँ लौटकर सास के लिए देव-पूजन का प्रबन्ध करती है । चूलहा सुलगाती है और गाय का दूध छान कर तपाती है । भोग चढ़ाकर जल-पान करते हैं । थोड़े दाल-चावल निकाल उन्हें बीनती है, एक शाक लेकर सवाँरती है । सास कहती है कि साधारण भोजन भी कितना स्वादिष्ट है यह स्वाद उसके भाग्य में न था । तब विष्णुप्रिया कहती है कि स्वाद तो – ''है प्रभु के प्रसाद में ।''(182) भोजन के पश्चात् चौके-चूल्हे को लीप-पोत करती है, बर्तन

माँजती है । इसी तरह दोपहर ऐसे ही बीत जाती है । तीसरे पहर कुछ देर अपने कक्ष में जाकर लिखती या पढ़ती है । माँ सूत कातती है । पड़ोसिनें आती है सुख दुख की बातें होती है । जो भी कुछ भेंट दे जाते उसे सँभाल कर वह वस्तुएँ रखती है और प्रसाद देकर आगतों का मान करती है । सन्ध्या को दीप जलाती हैं । और माता से आशीर्वाद लेती है । माँ कहती है कि मैं अभागिनी तुझे सुख भी न दे सकी तो विष्णुप्रिया बड़े नम्र होकर उत्तर देती है कि –

> ''माँ, न कहो ऐसी बात, पाप में पड़ूँगी मैं ।
> पाया तुमसे जो मान मैंने इस धाम में,
> आगे उसके क्या सुख-दुःख और प्राण भी !''(183)

विष्णुप्रिया रात तक अपने को काम में उलझाये रखती है सास के पेर दबाकर सुलाकर आप सौने जाती किन्तु सो नहीं पाती थीं । परिवार की चिंता के कारण वह सास के कहने पर भी पिता के यहाँ भी नहीं जाती । वह करुण जीवन में कर्म-रत बनी रही है । वह वियोग में याचना करती है कि हे प्रियतम, मैं तुम्हारे सुयोग्य नहीं बन पाई पर तुम यहाँ मेरे योग्य वर बनो । एकदिन उसके पति ने सन्यास-दंड तोड दिया और प्रतापरुद्र राजा के वस्त्र-भेंट विष्णुप्रिया के पासा भेजे । वह उसे आज्ञा पालने हेतु सिर पर रखती है । और कहती है कि – ''रानी नहीं होना मुझे, मैं तो हूँ वही रहूँ ।''(184)

मैं इसे धारण करके अपनी लज्जा खोना नहीं चाहती, अम्ब यह अपना उपहास मात्र होगा । विष्णुप्रिया विरह की चरम सीमा पर पहुँच जाती है । वह कहती है कि उर्मिला के पति निश्चित समय के बाद आ जाएँगे, यशोधरा के पास राहुल है माँगने के लिए बुद्ध आएँगे । पर मैं क्या कहुँ मेरा तो शून्य कपाल है । अर्थात गौर के आने का न तो निश्चित समय है और न ही विष्णुप्रिया पुत्रवती है कि उसकी लालसा हेतु गौर आए । विष्णुप्रिया की वेदना बढ़ गई है । राजा के दिए हुए वस्त्र भेजने के कारण विष्णुप्रिया खिन्न दिखाई देती है । उसके मुँह से निकल जाता है कि – ''राज-समादर के लिए ही गए हैं वे ?'' (185) सोते हुए सोचती रहती है उसे पति का स्वप्न-दर्शन होता है तो उन्हें भी बधाई देती हुई कहती है अब तो तुम राजमान्य हो गए हो, तुम्हें क्या अभाव है लेकिन माँ वृद्धा, हृत पुत्रा और विधवा है और मैं भिक्षु हुए पति की परित्यक्ता वधू हुँ हमें ऐसे वस्त्र की क्या जरुरत है । गरीबी हमारी सम्पदा है । यह सब तुम्हारें यशः पट के ही योग्य रहेगा । गृह-त्याग करने के लिए तुमने जो व्रत लिए थे क्या वह सदउद्देश्य पूर्ण हो गए । क्या भिक्षुक की ऐसी ही निष्पत्ति होती है ? यह सब सुनकर गौर हँसकर इतना ही कहते हैं कि –

> 'तुम अवरोधिनी थी, अब हो प्रबोधिनी ।
> आशा यही तुमसे थी, आज्ञा शिरोधार्य है ।''(186)

गौर की यह उच्चता देख वह उनके पैरों पर गिरने जाती है कि उसकी आँख खुल जाती है । कवि ने स्वप्न योजना के रुप में गौर की अतिमानवीय शक्ति को प्रस्तुत किया है । पति के गृहस्थ रहकर उनकी सुख-व्यवस्था चाहे न की हो, पर विरक्त होकर उन्होंने उसे सामाजिक सम्मान अवश्य दिया है । पर्वोत्सवो के आते रहने का विवरण प्रस्तुत करती है, पर अपने संबंध में 'हिम में जलती, तप में कँपती, वर्षा में सूखी हूँ ।'(187) कह पाती है । गौर की जीवन की घटनाओं के उल्लेखों के द्वारा सास-बहू के मन पर होनेवाले प्रतिघातों को कविनें निरुपित किया है । नित्यानन्द ने जब यह समाचार दिए कि गौर ने उन्हें भी गृहस्थ बन जाने का आदेश दिया तो विष्णुप्रिया अपने प्रति गौर की इस ममत्व भावना को देखकर अपने दुःख मूल्य की भरपाई अनुभव करती है । वर्षो तक अपने सतीत्व की शक्ति से विष्णुप्रिया वियोग वेदना सहती रहती है । अचानक एक दिन उसे पति के मायापुर में आने का संदेश मिलता है । वह व्याकुल हो जाती है कि उन्हें क्या भेंट देगी और क्या उनका स्वागत -समादर कर सकेगी ? मिलन के समय विष्णुप्रिया ने यही पूछा कि वह कैसे रहे और क्या करें ? भगवान का ध्यान भी नहीं धर पाती क्योंकि बीच में प्राणप्रिय आ जाते है । गौर यह सुनकर निरुत्तर हो जाते है । वे उसके सम्मान में उसके सन्मुख खडाउ छोडकर खड़े हो जाते है । विष्णुप्रिया पादुका का अवलंब पाकर कृतकृत्य हो उठती है । सास-बहु गौर का वृतांत सुनती है । गौर की वृन्दावन-यात्रा का विवरण सुन करके शची गंगालाभ करने को उद्यत होती है । सास की यह कामना कि अन्य जन्म में भी विष्णुप्रिया जैसी बहू मिले और गौर जेसा पुत्र, पर वह विरक्त न हों । सास की मृत्यु से वह अपने को कर्तव्य मुक्त मान कर चिरनिद्रा के हिमानी अंक में सदा के लिए विश्राम पाना चाहती है । 'मरने का अवकाश मुझे, बन्धन की कड़ियाँ टूट गई ।'(188) पर स्वयं प्रभुमूर्ति में स्वदेह लीन होकर भी स्वामी स्वप्न में आदेश पाती है कि –

''कुछ दिन और प्रिये, सहना है तुमको, आयु शेष रहते मरण आत्मघात है ।
स्थूल रुप से ही यदि चाहो तुम मुझको, मेरी एक मूर्ति रक्खो निज गृह-कक्ष में ।''(189)

तब वो कहती है कि –

'स्वामी रहो, मेरा यह स्वत्व भी न छीन लो क्या अनुचरी के भी अयोग्य हूँ तुम्हारी मैं ?
हाय नाथ, मेरे लिए शेष था क्या यह भी ? जीने की नहीं है यह आज्ञा मरने की है ।''(190)

वह अपने घर में ही मंदिर बनाकर उसमें गौर के चैतन्य महाप्रभु-रुप की प्रतिमा प्रतिष्ठित करती है । वह मूर्ति के पास ही रहती है, बाहर भी नहीं निकलती और प्रतिदिन जितने मन्त्रश्लोक जपथी थी उतने ही अन्न के कण लेती थी । वह तपस्विनी के रुप में काल-यापन करने लगती है । वह दान-शीला तपस्विनी, नियम, संयम और पति की प्रतिमा का अवलम्ब लेकर 'पल-पल से है मुझे जूझना लेकर ये कर

रीते ।' के संकल्प में ही अपने शेष करुण जीवन की कथा का उपसंहार करने के लिए तत्पर हो जाती है । [191]

कवि ने विष्णुप्रिया की विरहभावना को आत्म-संकोच के रुपमें न लेकर आत्म विस्तार के रुप में इसका उन्नयन किया है । विष्णुप्रिया एक भारतीय नारी के रुप में है, जो पत्नी के रुप में आई है । अतः सांस्कृतिक आदर्शवादिता उनमें भी मिलती है । वैयक्तिक संघर्ष व कष्टों से परे पति की कल्याण भावना ही प्रधान है ।

निष्कर्ष यह है कि विष्णुप्रिया, सामाजिक चेतना और दार्शनिक आधार का समन्वित रुप है । विष्णुप्रिया सामान्य श्रेणी की गृहिणी है । वह निःसन्तान है, उसे सास की सेवी ही नहीं बल्कि आजीविका के लिए धनोपार्जन भी करना पडता है । पति की तुलना में विष्णुप्रिया के व्यक्तित्व में कुछ भी दुर्बलता नहीं है । सतीत्व की शक्ति से वह वियोग-वेदना सहती रही । उसे मरने से कठिन हुआ जीना । विष्णुप्रिया के चरित्र में पति की सहानुभूति से नया उत्कर्ष मिलता है । साध्वी विष्णुप्रिया के चरित्र में उत्सर्गमय प्रेम तथा पत्नी के सहिष्णु नारीत्त्व का उत्कर्ष है ।

शची :-

मैथिलीशरण गुप्तजी के 'नहुष' काव्य की इन्द्राणी शची मुख्य नायिका है । उसमें स्त्री-सुलभ दुर्बलता एवं व्यग्रता है परन्तु आज की नारी की भाँति अपनी सतीत्व की रक्षा के लिए कुशाग्र बुद्धि से युक्ति भी सोचती है । जिससे नहुष का पतन भी हो जाता है । स्वयं शची को कुछ हाथ-पैर भी नहीं हिलाने पड़े । ऋषियों आदि के शाप के द्वारा उसका पतन हो जाता है ।

इन्द्र त्रिसरा और वृत्त की हत्या करता है । यह एक ब्रह्महत्या और विश्वासघात के कारण इन्द्र पाप का भागी हुआ है । इन्द्रासन छोड़कर प्रायश्चित्त करने के लिए, उसे एकांत जल में समाधि लगानी पड़ी । इस प्रसंग में स्वर्ग की रक्षा के लिए, महाराज नहुष को योग्य समझकर देवताओं ने उन्हें इन्द्र-पद पर प्रतिष्ठित किया था ।[192]

नहुष का इन्द्रपद पर प्रतिष्ठित होने से इन्द्राणी रानी बहुत दुखी है । यद्यपि इन्द्रपुरी में सब ओर शांति का साम्राज्य है और उस शांति में सूरलोक मग्न है, पर इन्द्राणी शोक-मग्ना हो रही है । वह दुख से गभरा रही है इसलिए अपनी सखी के साथ देव नदी के तट पर आती है । और कहती है कि आज इन्द्र के स्वर्ग-भ्रष्ट होने से मेरा भी स्वर्ग का सब वैभव खो गया । मेरे प्राण भी नहीं निकलते क्योंकि अमर देवता की धर्मपत्नी होने से वह भी अमर है । वृक्ष की सूखी डाली पर जैसे कोई भ्रमरी मँडरा रही हो ऐसी मेरी

दशा हो गई है । शची का अंतस्थल दुःखातिरेक के कारण भूसी के समान जल रहा है । विरहिणी शची की मानसिक दशा का वास्तविक चित्रण कवि ने मनोवैज्ञानिक ढंग पर किया है । प्रिय के वियोग में एक पतिव्रता नारी अपने को भूला हुआ-सा ही जान पड़ती है । नहुष को एकाएक इन्द्र के आसन पर बिठाना यह उसे खलता है । भला अपना अधिकार किसी दूसरे को देने में कैसे सहनीय हो सकता है । सखी उसे कहती है कि थोड़े दिन के लिए इंद्र की पदवी पा गया है । आखिर वह मनुष्य है उसका स्थान मृत्युलोक ही है । अतः तुम धैर्यपूर्वक इस समय को काटो । यह सुनकर इन्द्राणी व्याकुल हो कर कहती है , हे सखी मुझे तो को कोई भी परिवर्तन नहीं दिखाई देता । सब वहीं है, जो पहले था बस मैं ही वह नहीं , जो पहले थी । मेरे पास क्या था , पर अब मेरा यहाँ क्या रहा । आज में अपने ही देश में विदेशिनी हूँ और अपने ही कठोर निर्दय घर में बंदिनी-सी पड़ी हूँ ।

''क्या थी अब कौन हूँ, कहाँ थी अब मैं कहाँ, क्या न था, परन्तु अब मेरा क्या रहा यहाँ ?
आज मैं विदेशिनी हूँ अपने ही देश में, बन्दिनी-सी आप निज निर्मम निवेश में !''(193)

मनुष्य के पास जब सत्ता होती है तब उसके अधिकार में सब कुछ होता है । सत्ता न रहने पर कुछ नहीं रहता । शची की मानसिक स्थिति और भी बदल जाती है, वह देखती है कि उसका सारा राज्य-वैभव प्रिय की अनुपस्थिति में उससे छीनकर नहुष को दे दिया गया है । यह बात सच है कि आज के समाज में भी पति के न रहने से नारी की सुख-सुवधिाएँ, आमोद-प्रमोद के साधन छीन लिए जाते है , आज भी नारी की स्थिति वैसी ही है । उसी का सब कुछ होते हुए भी नहीं होता । शची अपनी सखी से कहती है कि मैं इस स्थिति को एक खराब स्वप्न मानकर टाल सकती हूँ पर मन को किस प्रकार समझाऊँ । आज मैं अभागिनी और दीना हुँ क्योंकि मेरा इतना अधिकार भी नहीं है कि फल तो क्या एक पुष्प भी तोड़ सकूँ । मेरे लिए तो सुखी हरियाली ही रह गई है । सखी कहती है कि यह विषम समय भी बीत जायगा । महाराज नहुष बलशाली महामानव है । अब तक तो उनके संबंध में ऐसी कोई बात नहीं सुनी है इसलिए हे देवि आप शंकित न हो । पर शची का मन सशंकित है वह भयभीत है, उन्हें नहुष के महामानव होने पर भी मानव के पद के मद की शंका है । क्योंकि ऊँचा पद पाकर मनुष्य को मद हो ही जाता है । नदी की उपमा देती हुई कहती है कि नदी भी जब उमड़ती है तो वह अपनी सीमा का उल्लंघन करती है वह अपनी हद में नहीं रहती ऐसा ही हाल मनुष्यों का है । और उनके मन का भी क्या निश्चय है, न मालूम कब बदल जाय ।

''नहीं, किन्तु पद में सदैव एक मद है ; सीमा लाँघ जाता है उमड़ता जो नर है ।
निश्चय है कब क्या किसी के मन का कहीं , शंकित हो मेरा मन, आतंकित है यहीं ।''(194)

क्योंकि देवता सदा देवता, राक्षस सदा राक्षस ही रहते है पर मनुष्य अपने कार्यो से राक्षस और देवता दोनों ओर आ सकता है । इसलिए शची मनुष्यों से सदा शंकित रहती है । शची का घर तो गया पर स्वामी का साथ भी छूट गया है । इसलिए बड़ी ही दुःखी है । कवि का कहना है कि देवों पर विश्वास इसलिए है कि वह अपने पद पर स्थिर रह सकते हैं । राक्षसों का भी निश्चय है कि वे अपनी राक्षसी वृत्ति नहीं छोडेंगे । अतः इनसे सतर्क रहा जा सकता है । किंतु मनुष्य की स्थिति का कोई भरोसा नहीं । मनुष्य ही ऐसा है जिसकी मानसिक विचारधारा का कोई पता नहीं । वह दोनों प्रकार की स्थिति को प्राप्त हो सकते हैं । कवि ने इस कथन द्वारा मनुष्य की स्थिति का सुन्दर परिचय दिया है ।

''देव सदा देव तथा दनुज दनुज है ,
जा सकते किन्तु दोनों ओर ही मनुज है ।''(195)

इन्द्राणी को कुछ सूझता नहीं है कि वह क्या करें वह सोचती है कि यदि युद्ध संभव होता तो मैं स्वयं युद्ध करती और दिखा देती कि मैं केवल सुख-भोग करनेवाली स्त्री नहीं हुँ उसी समय लोग मेरी शक्ति को पहचानते । यहाँ वियोग-जन्य करुणा के साथ-साथ उत्साह का भी वर्णन कवि ने किया है । उसे वह प्रसंग स्मरण हो आता है जब शुम्भ और निशुम्भ राक्षसो से युद्ध हुआ था । उस समय दुर्गा का पक्ष लेकर शची युद्ध में जूझी थी । इन्द्राणी स्वर्ग की आधिष्ठातृ होकर भी चिंता मग्न है पर साथ में अपने आत्म-गौरव से भर कर प्रदीप्त हो उठती है । उस समय अश्रुमुखी महिला धूल से धूली हुई माला के समान दिखाई देती है या फिर धुएँ के ढेर से अग्नि की ज्वाला निकल पड़ी हो ऐसा मालूम होता है । कवि ने अधिकार-वंचिता शची को इस दयनीय अवस्था में भी अपनी शक्ति का अभिमान है यह उसे ज्ञात है। अर्थात नारी को कठिनाई मुसीबतों का सामना करने के लिए हंमेशा आत्म-निर्भर रहना चाहिए। तभी वह अपने अधिकारों के लिए पुरुष प्रधान समाज से लड़ सकती है । शची आगे कहती है कि –

''शक्ति से जो साध्य होगा, साधेगी उसे शची,
किन्तु क्या विवेक-बुद्धि आज उसमें बची ?''(196)

अर्थात शक्ति से जो कुछ कार्य सध सकेगा उसे साधने के लिए शची तत्पर है । पर आज उसमें विवेक-बुद्धि नहीं रही है अर्थात वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो रही है । इसलिए कोई भी व्यक्ति मुझे मार्ग दिखा दे तो उसके अनुसार चलकर दिखा दूंगी । यह कह वह गुरु बृहस्पतिजी की शरण में जाती है । वह अपने पति इंद्र का ध्यान करके मानिनी इन्द्राणी कर्तव्य-बुद्धि का वरदान लेने के लिए चल देती है । स्वगंगा में स्नान करने पर भी उसका मन चिंता में व्याप्त था जैसे शचि चंद्रिका के शुभ्र प्रकाश से आच्छादित रहती है । देवर्षि नारद के आने की खबर शची को नहीं रहती क्योंकि उस समय शची अपने विचारों में डूबी थी ।

उसके हृदय में कितने ही विचार उठ रहे थे, अपने होंश ही में नहीं थी । उसने नारदजी को झुककर प्रणाम भी नहीं किया। यह बात कुशल की थी कि नारद की जगह दुर्वासा ऋषि न थे, नहीं तो झट से शाप दे देते । नारदजी ने कहा – इन्द्राणी दया के योग्य है क्योंकि वह दुःखी है । क्योंकि उसका तो इस समय धाम, धन और कोष सभी नष्ट हो गया हैं अतः वह स्वस्थ कैसे रह सकती है। शची देवगंगा में स्नान करके बाहर निकली थी कि इन्द्र नहुष शची की शोभा की एक झलक पाते हैं । नहुष उस समय विहार करके राजहंस नौका से उतरे थे । वे शची के अगाध रुप, लावण्य तथा नेत्रों की मादक शोभा और भरे हुए यौवन को देखकर उसकी ओर खिंच जाते हैं । शची को देखकर नहुष मोहित हो गया और वह अपनी सुध-बुध भूलकर उसकी ओर एकटक देखता ही रहा । यद्यपि शची थोड़ी देर में ओझल हो गई पर उसकी छवि राजा के नेत्रों के सम्मुख बनी ही रही । वह सोचता है कि जो इन्द्र हो, इन्द्राणी उसी की होनी चाहिए । यदि मैंने शची को भामिनी रुप में नहीं प्राप्त किया तो मेरा इन्द्रत्व किस काम का। वह मेरे आभ्यंतर की स्वामिनी ही है । देवदूती द्वारा भेजे गए नहुष के प्रणय-संदेश सुनकर कर्तव्यपरायणा और पति-भक्ति मे लीन शची को क्रोध आता है वह सहन नहीं कर पाती और एकदम बोल उठती है –

''सौंपा धन-धाम तुम्हें और गुण-कर्म भी,
रखन सकेंगी हम अन्त में क्या धर्म भी ?''(197)

हमने धन, धाम, गुण और कर्म आदि सब तुम्हें सौंप दिये, पर क्या हम अपना धर्म भी सुरक्षित नहीं रख सकते । जैसे कोई धनी-मानी गृहस्थ किसी तीर्थयात्रा के लिये जाय और अपने नौकर को अपना घर-बार सौंप जाय, इसी तरह इंद्र ने अपना धाम तुम्हें सौंपा है । यह पाती के समान है, जो तुम्हें समय आने पर लौटानी पड़ेगी । इसलिये अपना कर्तव्य पहचानो। यदि कोई किसी का प्रतिनिधि बनकर उसका कार्य करे तो वह उसका तदात्मरुप नहीं हो सकता है । इसलिये तुम शची के पति बनने की इच्छा को अपने हृदय से निकाल दो –

''त्यागो शची-कान्त बनने की पाप-वासना,
हर ले नरत्व भी न काम-देवोपासना !''(198)

ऐसा न हो कि तुम्हारी यह कामदेव की उपासना तुम्हारा नरत्व भी न हर ले अर्थात् साधारण मनुष्य कोटि से भी नीचे न गिर जाओ । कवि ने यहाँ नारी को उसके सतीत्व और शौर्य के बल पर साहसी और निर्भय दिखाया है । यह अपने चरित्र की महत्ता नारी-जाति के लिए आदर्श की बात है। दूती द्वारा शची के प्रत्युत्तर को सुनकर नहुष अपने आपे में नहीं रह पाता। वह शची को अपनी प्रणयिनी बनाने और पुरुषत्व की झूठी मान रक्षा के लिए अग्रसर होता है। इस प्रसंग में देवपुरी के समस्त देवतागण, ऋषि तथा मुनि

लोग नहुष की इस प्रणय-याचना पर विचार करते हैं । कुबेरने कहा कि शची से ही इस विषय में पूछ लिया जाय । इस विषय में शची का ही मत प्रधान है । कुबेर के कथन को सुनकर मानिनी शचीने कहा कि –

''मेरामत'' - मानधना बोली - ''पूछते हो आज ?
पूछ लूँ क्या मैं भी, क्यों बनाया उसे देवराज ?
कोई न था तुममें जो भार धरे तब लों,
स्वामी कहीं प्रायश्चित पूरा करें जब लों ''(199)

आज तुम लोग मेरा मत पूछते हो जब नहुष को इंद्र बनाया गया था तब मेरा मत क्यों नहीं लिया गया । तुमने उसे देवराज क्यों बनाया । क्या तुममें से कोई ऐसा योग्य नहीं था जो इन्द्र के भार को तब तक सँभाल सकता जब तक मेरे स्वामी अपना प्रायश्चित पूरा न कर लें । आज मेरी इन्द्रपुरी (अमरावती) का मालिक एक मनुष्य है । यद्यपि वह एक उग्र तपस्वी है, पर है कामी पुरुष । क्या उसको शांत करने का कोई उपाय नहीं है । क्या देवताओं के सारे कार्य-कलाप मनुष्य के बिना नष्ट हो रहे थे । क्या सेवक को स्वामी कर लेना आवश्यक था । यह सब सुनकर वरुणदेव व्यथित होकर बोले, महादेवी, आप अपने उपर-इस प्रकार क्यों निष्ठुर हो रही है । अपने कर्मो से ही मनुष्य उपर उठता है । देवतागण मनुष्यों की सेवा तथा तपश्चर्या के अनुसार वर ही दिया करते हैं । और नहुष इस पद के योग्य पात्र था । अंत में वरुण शची से कहते हैं कि इस समय जो कुछ वस्तुस्थिति है, वह आपके सामने हैं । यदि आप नहुष को वरें तो उसकी भी विधि है । आप इसका परिणाम सोच लें और फिर आप जो कुछ भी चाहें, करें । शची अपने पक्ष में कुछ ऋषियों का मत देखकर अपने मत का समर्थन करती है पर वरुण नहुष के संदेश का पूर्ण समर्थन करते हैं । पति परायणा शची नहुष के साथ प्रणय-संबंध स्थापित नहीं करना चाहती है किन्तु देवताओ के द्वारा नहुष का समर्थन देखकर वह स्त्री-समाज की विवशता प्रकट करती है । वह कहती है कि मेरी द्रष्टि में विशुद्ध आचरण की कसौटी मन की पवित्रता है । अब रहा अपने प्रणय-संबंध में किसी व्यक्ति विशेष का चुनना, यह मेरी इच्छा पर निर्भर है । किंतु समाज की सत्ता और उसके द्वारा उचित अनुचित कार्यों का उल्लंघन ही कौन कर सकता है । उसके सामने एक अबला की सत्ता ही क्या ? जिये चाहे मरे । आज नहुष से विवाह करने पर मुझे विवश कर रहे हों । शची इस समय दयनीय अवस्था को प्राप्त होती है । वह देवताओं के सम्मुख रोती हुई कह रही है –

''सब गया, हाय लज्जा भी नहीं बची ।
मेरे नष्ट होने से बचें जो सब सुख से,
नाहीं निकले तो भला कैसे इस मुख से ?'' (200)

मेरा सब कुछ चला गया । एक केवल लज्जा बची थी । वह भी चली गई । मेरे नाश होने से यदि किसी एक का भला हो तो फिर इस तुच्छ शरीर का मोह ही क्या ? मैं स्वयं नहुष से जाकर लडूँगी और विनय से राज्य छोड़कर अपनी मुक्ति ही माँगूँगी । अर्थात वह नहुष से अपने पतिव्रत की रक्षा के लिए लड़ने और उसके चरणों पर गिरने तक का विचार कर लेती है । इस प्रकार उसकी चिन्तन-शक्ति कुण्ठित हो जाती है । वह न्याय अन्याय, धर्माधर्म का निर्णय नहीं कर पाती । शची आगे कहती है कि केवल हमारे कार्यो में दोष ही दोष देखे, गुण देखे ही नहीं, उसका निर्णय भी अमान्य है । क्या किसीने यह विचार किया है कि हमने जो वृत्रासुर को मारा वह आत्म-रक्षा के लिये मारा जिसका हमें अधिकार है । इस अभागे नहुष को यज्ञ में आहुतियाँ दे देकर उन ऋषियों ने ही काले नाग को दूध पिलाया है , इसलिए वे ही ऋषि अपने कंधो पर उसकी पालकी उठाके नहुष को मेरा वर बनाकर यहाँ लावें । यह सुनके ब्रह्माजी एकाएक बोल उठे, ठीक है, शची के नये वर की यही सवारी (यान) हो । वे ऋषिगण उसे नरदेव (नहुष) की पालकी उत्साहपूर्वक लावें । इस तरह शची सभा की आज्ञा का उल्लंघन न करते हुए वह अपनी स्वीकृति देती है पर इस शर्त पर कि राजा नहुष ऋषियों के द्वारा उठाई हुई पालकी पर चढ़के आवें । यहाँ शची में आज की नारी की भाँति दूरदर्शिता लक्षित है । साथ ही स्त्री सुलभ कोमलता, व्यग्रता और भीरुपन भी है । नहुष की शची आज की स्त्रीयों की भाँति बुद्धिवादी है वह देवी, देवता आदि प्रार्थना करके ही नहीं बैठती वह युक्ति से काम लेती है । अपनी स्त्रीत्व की रक्षा के लिए युक्ति से काम लेकर कार्य की सिद्धि प्राप्त करती है । जब ऋषिगण पालकी ढोते समय बार-बार अपने कंधे बदलने के लिए रुके तो राजा नहुष बड़ा व्याकुल हो गया और शीघ्रता के लिए बार-बार अपने पैर पटकने लगा । ऐसा करने में उसका पैर एक ऋषि को लग जाता है । यह देखकर सातों ऋषियों में क्रोध की लहर दौड़ गई । वे कहने लगे कि एक तो हम बोजा ढोएँ, बाते सुनें और फिर लातें भी सहें । हे नीच तु अब सर्प होकर पतीत हो जा । इस तरह नहुष का स्वर्ग से पतन हो जाता है । नहुष के सरोष पटके हुए पैर ने ऋषि से स्पर्श होकर उनमें क्षोभ की भीषण अग्नि प्रज्जवलित कर दी , जो उसके पतन और अभिशाप का कारण बनी । वह शची से खुली क्षमा माँगता है , कि मैंने अपने अधिकार की ही आड़ ली, पर काम के प्रभाव से यह अनुचित कार्य कर बैठा ।

''मानता हूँ, आड़ ही ली मैंने स्वाधिकार की, मूल मैं तो प्रेरणा थी काम के विकार की ।
माँगता हूँ आज मैं शची से भी खुली क्षमा, विधि से वहिर्गता भी साध्वी वह ज्यों रमा ।''(201)

निष्कर्ष यह है कि अपनी चातुर्य बुद्धि से काम लेकर उसने अपने पतिव्रत्य धर्म की रक्षा की है । नारी-जाति का आदर्श शची में निहित है । अनेक प्रलोभनों के बीच पड़कर भी वह अपना तेज, संयम और सतीत्व स्थिर रखती है । वह गर्वोन्नता, पतिपरायणा सती-साध्वी स्त्री है । जहाँ उसमें

आत्म-अभिमान की प्रवृत्ति है, वहाँ नारी-सुलभ लज्जा की भी प्रवृत्ति है। इसके अनुकरणीय चरित्र से प्रभावित ही नहुष को क्षमा माँगनी पड़ी । नारी की यह पातिव्रत धर्म की शक्ति ही है जिससे वह अपनी रक्षा करके सामने वाले को पराजित कर सकती है । शची के पतिवियोग और सतीत्व के आदर्श का यह चित्रण कवि की मौलिकता है ।

उर्वशी :-

'उर्वशी' को कवि ने काम प्रवृत्त को उभारने वाली दुष्ट स्त्रियों की भाँति चित्रित किया है । प्रायः मानव के जीवन में कुछ परिस्थितियाँ उपस्थित कर दी जाती हैं जिससे वे न चाहकर भी उस ओर अग्रसर हो जाते हैं । नहुष में सर्वप्रथम काम की ओर अग्रसर करने में उर्वशी ने ही परिस्थिति को उपस्थित किया है । उर्वशी के प्रसंग में देव विलास का सुन्दर चित्रण है । वह मानव की उद्योग शीलता की अनिवार्यता को ही देवत्व से अधिक प्रतिष्ठित करती है ।

स्वर्ग में उर्वशी के नृत्य और गान को देख तथा सुनकरके नहुष उसकी प्रशंसा करते हैं कि आज आँखों और कान दोनों ने अमृत का पान किया है । इस पर उर्वशी नम्र होकर कहती है कि स्वर्ग का सबकुछ आपको सुलभ है, आपके अधिकार में है । अमरावती (देवपूरी) में किसी सुख-साधन की कमी नहीं है फिर भी उदास रहते हों । वह कौन-सा नृत्य तथा गान है जो आपको प्रसन्न कर सके । नहुष के यह कहने पर कि यहाँ प्रजा इतनी सभ्य है कि उसके हित के लिये किसी राजा की आवश्यकता ही नहीं है तो उर्वशी ने कहा कि यह आपकी उदारता है परन्तु प्रजा के लिए तो एक राजा की आवश्यकता होती है । आपने इसी भाँति पृथ्वी पर राज्य किया और प्रजा का पालन करते हुए उसके पापरुपी दैत्य को दूर किया । अब आपने अपने पुण्य से स्वर्ग प्राप्त किया है । अतएव जो कुछ यहाँ है, वह आप ही के भोगने के लिए है ।

''आपकी उदारता कहाँ तक सराहिए,
फिर भी प्रतीक एक चाहिए ही चाहिए ।
पाली इसी भाँति प्रजा भू पर भी आपने,
दूर किये पाप-दैत्य जिनके प्रताप ने ।
अब जो यहाँ है, सब आप का ही भोग्य है ।''(202)

इस पर नहुष कहता है कि मनुष्यों के लिए कुछ करना चाहता हूँ । नहुष जब पृथ्वी के अभावों की पूर्ति की बात करते हैं तभी उर्वशी बीच में ही बात काटती हुई कहती है कि मैं समझ गई, आपका मतलब है कि पृथ्वी पर धन-धान्य की खूब वृद्धि हो और समृद्धि भी स्वर्गलोक के समान हो जाए । परन्तु प्रश्न यह है

कि क्या इसी से मनुष्य अमरता प्राप्त कर लेंगे । वे तो उलटे अपनी मनुष्यता ही खो बैठेंगे । वह आगे कहती है कि –

''पायँगे प्रयास-विना लोग खाने-पीने को, फिर क्यों बहायँगे वे श्रम के पसीने को !
होंगे अकर्मण्य, उन्हें क्या क्या नहीं सूझेगा ? कोई कुछ मानेगा न जानेगा न बूझेगा !''(203)

अर्थात जब मनुष्य को बिना महेनत किए ही खाने-पीने को मिल जाएगा तो वह महेनत से अपना पसीना क्यों बहायेंगे जब कि बिना कर्म के ही उन्हें सब वस्तुएँ उपलब्ध हो जायेगी इससे वे अकर्मण्य हो जायँगे और फिर उन्हें क्या-क्या बातें नहीं सुझेंगी, न कोई मानेगा और न कोई जानेगा और न जानने का प्रयत्न करेगा । उर्वशी आगे कहती है कि मनुष्यत्व होना कुछ कम नहीं है । देवता भी मनुष्य-योनि की इच्छा करते हैं क्योंकि इसमें तप, त्याग के तत्व हैं । जो कुछ भी है और जहाँ भी है वह मनुष्य के हाथ है । यद्यपि मनुष्य से स्वर्ग सनाथ हो गया है पर अभी आकाश के विशेष बचे हुए भाग का विकास है अर्थात मनुष्य को अभी बहुत कुछ करना बाकी है । अभी उसे कर्म-यज्ञ में हुत होना है । केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि लोग कर्म करें । शिष्ट मनुष्य वही है जो कर्म कौशल में दक्ष हो । जो मनुष्य विघ्नो, बाधाओं से नहीं लड़ा वह बड़ा नहीं हो सकता । कोई भी जड़ पदार्थ, जो निश्चेष्ट पड़ा है, सुखी और शांत है ।

Life without obstacles would be a flat race. The greater the difficulty the more glory in surmounting it. [Epicurus]

''कर्म करें लोग, इतना ही नहीं इष्ट है,
शिष्ट है वही जो कर्म - कौशल -विशिष्ट है ।
होगा वह क्या बड़ा, जो विघ्नों से नहीं लड़ा ?,
यों तो सुखी शान्त वही, जो जड़ हुआ पड़ा ।''(204)

यहाँ उर्वशी के माध्यम से कवि कहना चाहते है कि मनुष्य वही है जो कर्म -रत हो । विघ्नों के साथ लड़ने से ही मनुष्य सच्चा मनुष्य कहलाता है । यदि जीवन में कोई कठिनता न हो, विघ्न न हो तो वह जीवन ही क्या ? ''कुछ न करूँ मैं और कोई सब कर दे, लाके इष्ट वस्तु मेरे आगे बस धर दे ?''(205)) यदि मनुष्य यह सोचे कि वह कुछ भी न करें और दूसरा ही व्यक्ति सारा काम कर दे, उसकी इच्छित वस्तु उसके सामने ला कर रख दे और स्वयं को महेनत न करनी पड़े तो ऐसा मनुष्य नपुंसक और कायर कहलायेगा वह सबका शाप ही सहेगा । क्योंकि जो मनुष्य स्वयं अर्जन नहीं कर सकता वह भोग क्या करेगा । समाज में जीत उन्हीं की होती है जो अपने प्राणों की बाजी लगाकर कार्य में प्रवृत्त रहते हैं । कायरों के लिए तो रत्नों की वर्षा भी मिट्टी हो जायगी । जिस प्रकार समुद्र के गर्भ में अमृत और विष दोनों

होते है उसी प्रकार संसार में सुख भोगने के लिए दुःखो का सामना करने की क्षमता रखनी पड़ती है और दुःखो का सामना करने के लिए मनुष्य को प्रयत्न शील रहना चाहिए । इस सुख और दुःख का सामंजस्य मनुष्य को रखना होगा । नहुष ने जो मनुष्यों के लिए कुछ करने के कार्य बताए उसका भी खण्डन करती हुई कहती है कि जो मनुष्य स्वयं अपने लिए आवश्यक छाया का प्रबन्ध न कर सके, वह चैतन्य होता हुआ भी जड़ शरीर का है । यदि हमेशा मेघ छाया किया करेंगे तो सूर्य के निकलने की आवश्यकता ही नहीं । अर्थात जो लोग जीवित रहते हुए भी कुछ कर्म नहीं करेंगे तो उन्हें जीने का कोई अधिकार नहीं । उसके जीवित रहते किसी दूसरे को कोई लाभ नहीं होता तो वह मृतक के समान ही है । पृथ्वी पर छाया करने के लिए नित्य बादल भेजे जाएँगे तो वे पृथ्वी के दिनों को दुर्दिन ही बना देंगे । क्योंकि पृथ्वी के न तपने से वह तो ठंडी हो जायगी । उसमें उर्वरा शक्ति ही नहीं रहेगी, वह तो सील पाके सड़ जायगी । अर्थात उष्णता यौवन है और ठंडापन बुढ़ापा है जो मृत्यु के समान है । मनुष्य अपने पुरुषार्थ से मरुभूमि को भी लहलहाती रख सकता है । इसलिए मनुष्य को अपनी बुद्धि, बल, कुशलता तथा क्षमा-दया के भावों का इष्ट होना चाहिए । मनुष्य के लिए नित्य कार्य करते रहना ही श्रेष्ठ है । जिस तरह वायु चाहे दुर्गंध उड़ावे या सुगंध वह तो पवित्र ही है । इसी तरह मनुष्य ही एक ऐसा है जो अपने कृत्यों एवं कर्मो से स्वर्ग या नरक का निर्माण कर सकता है । इसलिए सूर्य, अग्नि, वायु, जल यह सब कार्य देवताओं के अपने-अपने समय पर हो और मनुष्य अपना धर्म और कर्तव्य की पूर्ति करें । अर्थात मनुष्य अपना काम करें और देवता अपना कर्तव्य करें । यही सबसे बढ़के बात है । उर्वशी यह सब कह कर नहुष से कहती है कि मैंने तो अपनी बुद्धि के अनुसार आपसे निवेदन किया है । मैंने जो उचित समझा आपसे कह दिया । अब आप अपने मन की मान सकते हो । उर्वशी की यह सब बातें सुनकर नहुष कंठ और वाणी के वश में हो जाते हैं । लेकिन उनका यह प्रश्न कि उसे इन्द्र बनने की ख्याति को छोड़कर पद पर आसीन होने से उसकी मातृभूमि तथा नरजाति को क्या मिला । तब उर्वशी कहती है कि यह अधिकार तो अमूल्य था । इस गौरव की प्राप्ति से पृथ्वी गौरवान्वित हो गई और मनुष्य भी इस अपूर्व आदर्श की प्राप्ति से धन्य हो गये हैं । इस पर नहुष उर्वशी पर मुग्ध हो जाते है और कहते हैं कि तो फिर तुम्हीं इस देह से कुछ कार्य लो । तो उर्वशी बोली कि आज आप में हमारा काम मूर्तिमान हो उठा है अर्थात आपको देखकर कामवासना जागृत हो उठी है । चलिये नन्दनवन में हमारे-आपके मिलन के लिये वसन्त उत्सुक हो रहा है ।

''आपमें हमारा काम आज मूर्तिमान है ।
चलिए न, नन्दन में उत्सुक वसन्त है ।''(206)

निष्कर्ष यह है कि इन्द्रासन पर बैठे हुए नहुष अपने अधिकार से अपनी जन्मभूमि के लिये समस्त सुख-साधनों को जुटा देना चाहते हैं , तब उर्वशी उनकी आज्ञाओं में हस्तक्षेप करती हुई नहुष

द्वारा किये जानेवाले उपकारों से भावी दुष्परिणाम और दोषों को बताती है । वह नहुष पर कामासक्त हो जाती है ।

गांधारी :-

'जयभारत' में 'गांधारी' के चरित्र में नारीत्व की मर्म-वेदना अधिक सक्षमता से साकार हुई है । गुप्तजीने इसे बड़े मार्मिक और मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है । न्यायप्रियता और नीतिप्रियता गांधारी के चरित्र की प्रमुख विशेषता है । गांधारीने पातिव्रत धर्म का निर्वाह करते हुए उसने सायास अन्धत्व स्वीकार करते हुए सदा के लिए आँखों पर पट्टी बाँध कर इंद्रिय सुख का त्याग किया है । गांधारी पतिपरायणा होने पर भी अपने को विवेकहीन सिद्ध नहीं करती । जिस सभामें पांचाली को नग्न किया जा रहा है, वहाँ प्रवेश कर सबको इस कुत्सित आचरण के लिए धिक्कारती है । यहाँ उसके कातर भाव की अपनी चरम व्यंजना हुई है । वह अपनी अंधता को सफल मानती हुई व्यंग्य में कहती है कि अपनी लूटती लज्जा को वह देख नहीं पाई ।

''हाय ! लोक की लज्जा भी अब नहीं रह गयी लक्षित क्या,
आज बहु का तो कल मेरा कटि-पट नहीं अरक्षित क्या ?''(207)

यहाँ गांधारी सभ्यता की मूर्ति के साथ नारी-जाति की प्रतिनिधि है । वह कुरुसभा को पापसभा कहकर पांचाली को अभय देती है । भाई से पितृकुल और पुत्रों से पतिकुल नष्ट हुआ इसलिए उसे क्षोभ है । दुर्योधन की अनीतिपूर्ण हठ धर्मिता से खिन्न होकर भी वह अपने भाग्य को ही कोसती है । वह स्वीकार करती है कि पाण्डवों के प्रति इर्ष्या ने ही महाभारत को जन्म दिया है ।(208)) 'कुरुक्षेत्र' सर्ग में गांधारी के शोक और मातृहृदय की मार्मिक व्यंजना भी हुई है । वे अपने दुःख से दुःखी न होकर पति धृतराष्ट्र के पुत्रशोक से ज्यादा दुःखी है । गांधारी अपने पुत्रों तथा अन्य वीरों के शव को दिखाती हुई दुःशासन के शव को देखकर वह संयत हो जाती है कहती है -

''क्या पाण्डवों को शाप देकर पिण्ड भी खोऊँ हरे !
जीते रहे जो रह गये, जो मर चुके हैं सो मरे ।''(209)

गांधारी का हृदय विशाल है, वे युद्ध के विनाश में अपने परिजनों के विनाश से दुःखी न होकर सारे देश के विनाश से दुःखी है । 'केशव, हुआ इस युद्ध में यह देश नष्ट समूल है ।'(210) कविने गांधारी के चरित्र में प्रतिकार की भावना का परिष्कार कर दिया है । गांधारी को कुरुवंश के विनाश का दुःख है । लेकिन वह कृष्ण को शाप नहीं देती, बल्कि प्रश्नवाचक रुप में कहती है -

''कुरुकुल सरीखा वृष्णि-कुल भी लड परस्पर नष्ट हो,
तो पूछती हूँ, कृष्ण, क्या तुमको न इससे कष्ट हो ?''(211)

इसके साथ ही कृष्ण को शाप देने पर भी वह भाव विह्वल होकर पश्चाताप प्रकट करती है ।

''क्या कह गई मैं हाय ! मेरा दोष देव, क्षमा करो,
मुझ दुःखिनी हतबुद्धि का अपराध मत मन में धरो ।''(212)

यहाँ कवि ने गांधारी को संयमशील, करुणा विगलित तथा उदारहृदया के रुप में चित्रित किया है ।

निष्कर्ष यह है कि गुप्तजीने गांधारी के चरित्र का परिष्कार करते हुए स्वाभाविक बनाया है । डा. हुकुमसिंहने लिखा है ''गांधारी का व्यक्तित्व मानवीयता से युक्त है । वे अनुपम पतिपरायणा, ममतामयीमाता, न्याय का समर्थन करनेवाली, संवेदनशील, धार्मिक तथा तेजस्वी नारी है ।''(213)

कौशल्या :-

'साकेत' में कौशल्या एक पुत्रवत्सला जननी के रुप में प्रतिष्ठित की गयी है । जो सरल स्वभावकी, कपटहीन, ममतामयी एवम् उदात्त भावना रखनेवाली है । कौशल्या सबसे बड़ी माता है । वे सदैव-कुल की मंगल-कामना में निमग्न रहती है । कौशल्याके व्यक्तित्व की सर्वप्रथम झलक, देवार्चन में लगी हुई पवित्रता से पूर्ण, मूर्तिमयी ममता-माया के रुप में द्रष्टि गोचर होती है ।(214) रामने जब अपने वन जाने की बात बताई तो वे सहसा विश्वास न कर सकीं, परंतु लक्ष्मण से कैकेयी की बात ज्ञात होने पर उनमें पुत्रप्रेम उमड़ आता है । कैकेयी के पैर पकड़ने और पुत्र की भीख माँगने के लिए तैयार हो जाती है । राजमर्हिषी की मर्यादा को तोड़कर सपत्नी के चरणों में नत-मस्तक हो करुण याचना करती है - 'मेरा राम न वन जाये यहीं कहीं रहने पावे '(215) माता के हृदय से पुत्र का ममत्व शत-शत धाराओं में फूट निकला है । कैकेयी से न तो इर्ष्या करती है न हीं कोई दोष देती है बल्कि उसके वात्सल्य की प्रशंसा ही करती है । -

''पुत्र स्नेह धन्य उनका हठ है हृदय-जन्य उनका ।''(216)

राम को वनगमन की आज्ञा प्रदान करती हुई गौरव लेकर जाने एवं गौरव लेकर लौट आने की सलाह देती है । उसे इस विपदा का कारण अपने सुकृत्य की कमी ही जान पड़ती है ।(217) कौशल्या अपने धीर-गंभीर स्वरुप के कारण ही दशरथ को धैर्य बंधाती हुई कहती है कि जो कुछ भी अविचित्र हो रहा है वह मनुष्य चरित्र को धन्य करनेवाला ही होगा । इस तरह कौशल्या राजा को गौरव-बल से शोक को सहन करने की सलाह देती है । दशरथ द्वारा वर माँगने पर भी वह कहती है -

''कैकेयी हो चाहे जैसी, सुत-वंचिता न हों मुझ जैसी ।''[218]

कैकेयी को कोई भी दोष न देते हुए उसे मझली बहनवत् मानती है यह उसकी महानता एवं निष्कलुषता का ही परिचायक है । यह हृदय की निर्विकार भावना और उदात्तता किसी सामान्य पत्नी एवम् माता में नहीं पाई जाती । उनकी ममता लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न पर भी एक सी है । भरत जब ननिहाल से अयोध्या वापस आता है तब अपने आप को गृहकलह का मूल मानता है पर कौशल्या चीख उठती है -

''झूठ यह सब झूठ, तू निष्पाप साक्षिणी तेरी यहाँ मैं आप
भरत में अभिसन्धि का हो गंध तो मुझे निजराम की सौगंध ''[219]

इस तरह वह निष्कलंक मयंक की तरह ही स्वागत करती हुई कहती है नाम चाहे भिन्न हो पर मुझे अपना राम मिल गया है । जब हनुमान से लक्ष्मण-शक्ति का समाचार सुनती है और शत्रुघ्न आदि ससैन्य लँका जाने को तैयार होने लगते है तो वे विचलित हो उठती है और कहती है -

''हाय ! गये सो गये, रह गये सो रह जावें जाने दूँगी तुम्हें न, वे आवे जब आवे ।[220]

निष्कर्ष यह है कि कविने कौशल्या के सरल, सहृदय एवं निष्कलुष मातृ-स्वरुप को उजागर करके उसके व्यक्तित्व की महानता का परिचय दिया है । कौशल्या के मनोभावों के अन्तर्गतभी उसका मातृस्वरुप ही परिलक्षित होता है । वह सर्वत्र एक स्नेहमयी माता ही द्वष्टिगोचर होती है ।

सुमित्रा :-

साकेत में सुमित्रा का चित्रण हुआ है । वह वीर क्षत्राणि माता है और कर्तव्य के लिए अपने स्नेह का बलिदान करने में भी वे नहीं हिचकती । सुमित्रा लक्ष्मणकी माता के रुप में उपस्थित है । उसकी वाणी में क्षत्राणी का ओज एवं गरिमा निवास करती है । वह नहीं चाहती की राम अन्याय सहन करें । इस दिशा में लक्ष्मण की निरवता भी उसे अच्छी नहीं लगती । किन्तु राम जब वस्तु स्थिति पर प्रकाश डालते है तो वह दोनों को धैर्य पूर्वक सब कुछ सहने के साथ, सिंह सदृश्य रहने की शिक्षा देती है ।[221]लक्ष्मण को भी राम का अनुसरण करने का आदेश देती है जो उसके मातृहृदय की महानता का द्योतक है । शत्रुघ्न को 'सोदर की गति अमर-समर में पाने दो तुम ।'[222] कहना सुमित्रा के वीर-भाव का ही परिचायक है ।

इस तरह सुमित्राके चरित्र में क्षत्रियोचित वीरता एवं मातृत्व का सफल समन्वय है ।

मांडवी :-

'साकेत' की कथावस्तु में मांडवी की चरित्र-सृष्टि भरत-पत्नी के रुप में हुई है । वह भरत के त्याग की समभागिनी है । उसने अपने श्रृँगार में केवल हाथों में चार चुड़ियां, माथे पर सिंदूरी बिंदु, ही

धारण कर रखा है । वह अपनी सासों की सेवा करती है और पर्णकुटी में फलाहार लेकर पति के दर्शन कर लौट जाती है । उर्मिला के जल भी गृहण न करने के कारण भरत और मांडवी का हृदय चीत्कार उठता है और भरत के धरती फट जाने की बात कहने पर मांडवी कहती है -

''हाय ! नाथ धरती फट जाती, हम तुम कहीं समा जाते ,
तो हम दोनों किस मूल में, रहकर कितना रस पाते ।
न तो देखता कोई हमको, न यह कभी ईर्ष्या करता ।
न हम देखते आर्त्त किसी को, न यह शोक आँसू भरता ।
स्वयं परस्पर भी न देख कर, करते हम बस अंगस्पर्श ।
तो भी निज दाम्पत्य-भाव का, उसे मानती मैं आदर्श ।''(223)

यहाँ माण्डवी के नारी-हृदय की पलायन-प्रवृत्ति का द्योतक है वही दूसरी ओर जब भरत अपने जीवन को व्यर्थ समझने लगे, तब मांडवी ने ही उनके महत्त्व की और सावधान किया -

'नाथ, न तुम होते तो यह व्रत कौन निभाता तुम्हीं कहो ?
उसे राज्य से भी महाई धन देता आकर कौन कहो !
मनुष्यत्व का सत्व-तत्व यों किसने समझा-बूझा है ?
सुख को लात मारकर तुमसा कौन दुख से जूझ है ?''(224)

वह आगे भी कहती है - 'सुख तो सभी भोग लेते हैं, दुख धीर ही सहते हैं ।'(225) यहाँ माण्डवी की धीरता, महानता, कष्ट सहिष्णुता, परिस्थिति जन्य संकट को सहने की शक्ति का परिचायक है । माण्डवी दुख में दुख बटानेवाली और सुख में सुख की समभागिनी है । देवर से बात करते समय विषाद के बीच भी उसके विनोद-भाव के दर्शन हो उठते हैं । 'घर सँभालने वाले मेरे देवर ही बड़ भागी है !'(226) शत्रुघ्न के मुख से शूर्पणखा के समाचार विदित कर मांडवी हंसते हुए कहती है कि 'प्रथम ताड़का, फिर यह शूर्पणखा नारी, किसी बिड़ालाक्षी की भी अब, आनेवाली है वारी !'(227) यह उसके नारी-सुलभ विनोद का ही परिचय देता है । मांडवी में क्षात्र-धर्म का ओज भी है । हनुमान द्वारा समस्त समाचार विदित होन पर, भरत से कहती है -

''कातर हो तुम आर्यपुत्र, होकर नर नामी,
तो अबला क्या करे, बता दो मुझको स्वामी ?''(228)

जहां उसके उत्साह प्रदीप्त करनेवाले नारी-भाव का परिचायक हैं वहाँ स्वामी को निश्चित मन से कर्तव्य करने की सलाह भी देती है और कहती है कि -

''डरा सकेगा अब न आप दुर्दम यम मुझको,
है अपनों के संग मरण जीवन-सम मुझको ।''(229)

अपना धैर्य न खोकर वह भरत को उचित कर्तव्यपालन की प्रेरणा देते हुए भयावह मृत्यु का भी सामना करने को तैयार हो जाती है । जो उसकी द्रढ़ता एवम् क्षत्राणी सुलभ-वीरत्व का परिचय देता है । उसकी मनोवेदना, मनोद्‌गार, मनोभावों के अंतर्गत व्यक्त होनेवाला उसका स्वरुप, सभी उसे एक आदर्श नारी ही घोषित करते हैं । वह पतिपरायणा एवं साध्वी नारी के रुप में अंकित की गई हैं । वे सहयोगि होकर भी वियोगिनी का जीवन व्यतीत करती है ।

श्रुतिकीर्ति :-

साकेत में श्रुतिकीर्ति के चरित्र की झलक मात्र है किन्तु स्वयं में पूर्ण है । शत्रुघ्न की पत्नी श्रुतिकीर्ति आद्यन्त संयोगिनी है । राम की सहायता के लिए वह स्वामी के चरण स्पर्श कर भरत का अनुसरण करने के लिये कहती है -

''जाओ स्वामी, यही माँगती वही मेरी मति है -
जो जीजी की, उचित वही मेरी भी गति है !
मान मनाया और जिन्होंने लाड़ लड़ाया,
छोटे होकर बड़ा भाग जिनसे है पाया,
हम दोनों की मिले उन्हीं में जीवन-धारा ।''(230)

यहाँ उसके क्षत्राणी-सुलभ स्वभाव का ही परिचय मिलता है । पत्नी के इस कथन से शत्रुघ्न प्रसन्न हो जाते है, वह शत्रुघ्न के शब्दों में आशानुकूल अर्धांगिनी ही सिद्ध होती है । इस तरह साकेत की चरित-भूमि में श्रुतिकीर्ति के चरित्र का केवल उसका क्षत्राणी-नारी-वेश प्रकट हुआ है । वह अपनी एकांगिता में भी शील-गुण-सम्पन्न है ।

मन्थरा :-

'साकेत' में मन्थरा का चरित्र परम्परागत कुटिल स्वरुप में ही हुआ है । मन्थरा अपने नाम-वचन एवम् क्रूर कपाल को ठोक कर भाल फूटने की बात करती हुई कहती है - 'हो या भोलेपन का अन्त ।'(231) तो कैकेयी कहती है राम और भरत दोनों में कोई भेद नहीं है । तो वह अपना धर्म बताकर कहती है कि -

''देखकर किन्तु स्वामि-हित-घात, निकल ही जाती है कुछ बात ।''(232)

इस तरह अपने कूट-कौशल से वह षड़यन्त्र की बात की ओर इंगित कर जाती है । वह कहती है कि -

''भरत को करके घर से त्याज्य, राम को देते हैं नृप राज्य ।
भरत-से सुत पर भी सन्देह, बुलाया तक न उन्हें जो गेह ! ।''(233)

कैकेयी यह सुनकर उसे कहती है कि नीच ही नीच होते हैं तू रस में विष मत घोल । कैकेयी का क्रुध स्वरुप देखकर स्वयं को नित्य अपराधी कहकर क्षमायाचना करती हुई कहती है कि मेरी जो कुछ समझ में आया उस मर्म को मैंने अपना धर्म बता कर कहा है । मंथरा की उदासी, उसकी क्षमायाचना और कपाल पीटना यह सभी एक कुटिल नारी का ही व्यक्तित्व है जो नारी सुलभ दुर्बलता का उपयोग कर, अपना उल्लू सीधा करने में परम पटु होती है । इस तरह मन्थरा जहाँ नीच दासी है वही स्वामी-भक्त एवं कर्तव्य-परायण भी है ।

देवकी :-

मै.गुप्तजीने देवकी का उल्लेख 'जयभारत' में किया है परन्तु उसके चरित्र का विकास 'द्वापर' नामक काव्य में ही अंकन हुआ है । देवकी कंस की बहन, वसुदेव की पत्नी और कृष्ण की जननी है । वह पुत्रवियोग से अत्यंत पीड़ित एवं भयभीत है । इसी शोकाकुल परिस्थिति में उसके लिए जीवित रहना भी कठिन है । परन्तु वह अपने व्यथित मातृत्व और संवेदनशील पत्नीत्व के लिए जीवित है । पति के कष्ट और दुःखों को देखकर उसका हृदय क्लेश होता है, वह अब उसको सहने में असमर्थ है इससे अच्छा वह मृत्यु को पसंद करती है क्योंकि मृत्यु के पश्चात् उसके पति को यह पीड़ा तो न सहनी पड़ती ।

''नाथ, कंसके हाथ उसी दिन, यदि मैं मारी जाती ;
यह मरने से अधिक आपदा, तो तुम पर क्यों आती ?''(234)

यह एक आदर्श पत्नी की ही मंगल कामना है जो पति को सुखी और खुश देखना चाहती है । पति पर जो अत्याचार होते है उससे वह अत्यधिक दुःखी है उसका यह कहना कि मुझ दासी के पीछे तुम्हें भी यह दुःख सहना पड़ रहा है - ''पुनरपि रुद्ध गृहा-से गृह में, रहना पड़ा तुम्हें है ।''(235) देवकी के सामने राम के एक तन्त्र राज्य का आदर्श द्रष्टिगोचर होता है कहती है -

'कहाँ गया हे राम, आज वह, तेरा राज्य, अरे रे !
मरे-न, मारे गये अये ! वे, छै छै बच्चे मेरे !(236)

देवकी आदर्श नारी के उपरांत एक शोकाकुल माता के रुप में हमारे सामने आती है । वह भावावेश में

कहती है कि - 'ऐसे मीठे थे मेरे फल, कंस खा गया कच्चे !''[237] लेकिन मेरे बच्चे मरे नहीं है । वे अंधियारे में दीपक बनकर हमारे सामने चमक रहे हैं । बच्चों के दु:ख में वह यह भी भूल जाती है कि वह कारागृह में बंद है। उसका शोक तीव्रता से उस बिन्दु पर पहुँच जाता है, जिसमें अन्याय के प्रति प्रति हिंसा प्रजवलित होती है । कंस को ध्वंस करने की प्रवृत्ति के कारण उसमें अब नौ मास तक प्रतीक्षा करने का भी धैर्य नहीं है । वह सभी बन्धनों से टकराकर चूर-चूर कर देना चाहती है। जब वसुदेव कहते है कि कंस के विनाश का जन्म हो चूका है तब उसका रुप शान्त होता है ।

गुप्तजीने 'देवकी' के माध्यम से विदेशी शासन के विरोध में आवाज उठायी है । उन्होंने स्वेच्छानारी राजतंत्र में पीड़ित जनता की पुकार की अभिव्यक्ति की है । तन्त्रात्मक राज सत्ता का विनाश होना चाहिए । देवकी संवेदनशील नारी है । वह अपनी तर्क शक्ति के द्वारा पति को संभाल लेती है । वह स्वयं आशावादी, क्रान्तिकारी और विचारशील नारी है ।

शूर्पणखा :-

'पंचवटी' काव्य का कथानक चिरपरिचित आख्यान शूर्पणखा प्रसंग पर आधारित है । जो युगीन समस्याओं से ओतप्रोत है । कुटी के बाहर एक शिला पर विचारमग्न प्रहरी होकर बैठे लक्ष्मण के सम्मुख रावण की बहन शूर्पणखा एकाएक प्रकट होती है जो अलौकिक वेश में एक नारी दिखाई पड़ती है । अत्यन्त कामी शूर्पणखा प्रथम भेंट में ही प्रणय-निवेदन करती है । एक पत्नीव्रत लक्ष्मण इस निवेदन को स्वीकार नहीं करते तो वह श्रीराम से भी प्रणय-याचना करती है । वहाँ भी असफल होती है । दोनोंने एक दूसरे की वधू बनने के लिए व्यंग्य बाण छोड़े तभी शूर्पणखा क्रुद्ध होकर अपने राक्षसी रुप को प्रकट करती है । वह तीक्ष्ण कृपाण से आक्रमण करती है । उससे बचने के लिए लक्ष्मण वध न करके नाक-कान काट देते है । शूर्पणखा अपमानित एवम्, कुरुप होकर भाग जाती है । शूर्पणखा स्त्री-जाति के प्रति हुए अन्यायों के प्रति निर्भय होकर आवाज उठाती है । जो स्त्री-जागृति सचमुच गांधी-युग की देन है । कविने स्त्री-पुरुष संबंधी आधुनिक विचारों को प्रस्तुत किया है। स्त्री का हिन्दू-समाज में बंधन पुरुष का ही बनाया हुआ है । इसलिए शूर्पणखा पुरुष की इस पक्षपात-भावना को बताती है कि -

''नर कृत शास्त्रों के सब बन्धन हैं नारी को ही लेकर,
अपने लिए सभी सुविधाएँ पहले ही कर बैठे नर !''[238]

निष्कर्ष यह है कि पुरुष के इस अन्याय के विरुद्ध शूर्पणखा की आवाज आधुनिक युग की नारी जागृति का प्रतिफल है ।

जेनी :-

'पृथिवीपुत्र' नामक रचना में 'जयिनी' संकलित है । 'जयिनी' में मनीषी कार्ल मार्क्स के दाम्पत्य भाव की एक झलक है । 'जेनी' मार्क्स की प्रणयिनी के साथ-साथ भारतीय नारी के रुप में अंकित हुई है, जो प्रिय के लिए सर्वस्व बलिदान करने को तत्पर होती है । जेनी मार्क्स को निरन्तर प्रसन्नमुख देखना चाहती है । मार्क्स का यह कहना कि तुम मेरे भविष्य को देखकर धैर्य खो दोगी इस पर जेनी कहती है कि भविष्य की चिंता भगवान पर छोड़ो वर्तमान में देखो आज तो मैं तुम्हारे साथ हूँ । जेनी जब मार्क्स से यह सुनती हे कि सत्ता से विद्रोह के फलस्वरुप उसे कारावास तथा निष्कासन का दण्ड मिल सकता है तो जेनी काँप उठती है । यह नारी का स्वभाव है कि पति अथवा प्रियतम की विरह की बात सुनकर वह अस्थिर हो उठती है । फिर भी वह निर्भिकता के साथ स्पष्ट शब्दों में कहती है कि यदि प्रियकर विद्रोही होगा तो उसे दण्ड देने में समर्थ हूँ । चाहे रात्रि का अंधकार हो या दिन का उजियाला जब चाहे मैं अपनी भुजाओं में बाँध सकती हूँ । यहाँ नारी की प्रणयशीलता ज्ञात होती है । वह पति सेवा और उसकी रक्षा करने में ही अपना सर्वस्व मानती है । यहाँ वह एक आदर्श पत्नी के रुप में आई है । मार्क्स पूछता है कि तूम्हारा लक्ष्य क्या है तो कहती है कि तुम्हारें इस शोक में सान्तवना के काम आ सकती तो स्वयं को धन्य समझूँगी । जेनी एक आदर्श सेविका भी ज्ञात होती है । वह दीनों एवं गरीबों की अपराधिनी के रुप में प्रस्तुत होना पसन्द करती है । नारी पुरुष की अर्द्धांगिनी है इसलिए पुरुष के प्रत्येक कार्य, उसके दुःख में समभागिनी है । वह एक राजकुल की कन्या होती है इसलिए मार्क्स का यह सोचना कि वह दुःख सह न सकेंगी तो जेनी कहती है कि -

'बोलो तुम्हें-छोड़कर मैं क्या सुख पाऊँगी ?
यह मुख देख सब दुःख भूल जाऊँगी ।''(239)

मार्क्स अकेले ही श्रमजीवियों का उद्धार करने जाए यह नहीं चाहती । सुख के साथ साथ वह दुःखपूर्ण दशा में भी उसका सात छोड़ना नहीं चाहती । वह साधारण स्त्री के समान जीवन व्यतीत कर समाज सेवा में व्यस्त रहती है । जेनी का चरित्र भारतीय आदर्श नारी का परिचय देता है । मार्क्स के प्रति उसकी आसक्ति, परिवर्तनशीलता, निर्भिकता तथा समाज सेवा आदि जेनी का चरित्र-चित्रण मनोवैज्ञानिक रीति से कविने अंकित किया है ।

रत्नावली :-

गुप्तजीने 'रत्नावली' नामक रचनामें रत्नावली के उज्जवल आदर्शो को स्थापित किया है ।

''कहीं कामिनी, कहीं भामिनी, कहीं मात्र हो स्वामिनी,
मन के साथ बुद्धि से भी तुम, हो मेरी सहगामिनी ।''(240)

रत्नावली कामिनी, भामिनी, स्वामिनी और सहगामिनी के रुप में अपने नाथ को अस्तित्व-समर्पण करती है । अपने स्वार्थ का त्याग करके पतिकी आध्यात्मिक-साधना में मनोवैज्ञानिक प्रेरणा देनेवाली नारी है । और वह उस पर विजय पाती है । प्रियतम की सफलता पर उसे गर्व का अनुभव होता है । सबको निर्मल कर सर्वत्र सियाराम के सुंदर स्वरुप को प्रतिष्ठित करनेवाली मानस की रस धारा से उसका हृदय आप्लावित होता है ।(241) प्राचीन रीति-रिवाजों का निर्मूलन कर वैदिक आदर्शो को नूतन रुप में गुप्तजीने प्रस्तुत किया है जो आधुनिक युग के आदर्श नारीत्व का प्रचार करती है ।

सुरभि :-

मै. गुप्तजी द्वारा रचित 'अनघ' काव्य में सुरभि का चरित्र अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है । वह पालित कन्या है पर कर्तव्यनिष्ठ है । उसका जीवन प्रारंभ से अंत तक कष्टमय होने पर भी निरन्तर उत्साहित रहती है । सुरभि 'मध' के प्रति आकर्षित है । उद्यान में वह सदैव मध की प्रतीक्षा करती हुई मधुर आवाज में गाती है । पूजा-पाठ तथा धार्मिक बातों पर श्रद्धाशील है । कभी 'मध' के दर्शन नहीं होते तो वह उद्यान में अटल रहती है । और 'मध' के दर्शन के पश्चात ही घर लौटती है । वह इतनी आकर्षित है कि दर्शन के बिना उसको शांति नहीं मिल सकती । 'मध' की माँ का स्वास्थ्य ठीक न होने पर वह उनके पैर सहराती है, तथा उनकी अवस्था को देखकर उन्हें मौन रहने के लिए प्रार्थना करती है । उनकी इतनी सेवा सुश्रुषा करती है कि मध की माता उसे आदर से देखने लगती है , सुरभि सेवाभाव से माता के हृदय में स्थायी रुप में स्थान पा सकती है । वह अपनी साधनाशक्ति के द्वारा मध को आकर्षित करती है । सुरभि 'मध' में एक रुप होने का प्रयत्न करती है । वह मध के बिना उसका जीवन शून्य के समान मानती है । मध से उसका विवाह हो यह भी इच्छा नहीं रखती केवल उसके साथ रहने में भी अपने को धन्य समझती है । कविने यहाँ प्रेम की अत्यंत उदारता को बताया है । सुरभि जल के समान पवित्र है । वह निष्काम सेवा करने को ही अपना निज धर्म मानती है । समय आने पर वह एक धैर्यशीला भी है । अपने हृदय को पत्थर बनाकर मार्ग में आनेवाले मुश्किलों का मुकाबला करने के लिए तत्पर होती है । उसका आत्मविश्वास है कि अच्छे कर्म का फल अंत में उचित ही निकलता है । वह मध के प्रति होनेवाले अन्याय को भी सहन नहीं कर पाती । इस तरह सुरभि एक आदर्शनारी के रुप में उपस्थित होती है ।

उत्तरा :-

'उत्तरा' का चरित्रांकन 'जयद्रथ वध' और 'युद्ध' में हुआ है । गुप्तजी की 'उत्तरा' कर्तव्यपरायण पत्नी, आदर्शनारी तथा पुत्रवती की लालसा रखनेवाली सहृदय माता आदि रुपों में अंकित है ।

उत्तरा एक नवोढ़ा पत्नी है , फिर भी वह अपने पति को युद्ध भूमि पर जाने के लिए विदा करती है । वे उसके कर्तव्य की भावना ही है जो क्षत्रिय धर्म का पालन करती है । विदाई के समय होते अपशुकन से वह काँपने लगती है । उसका मन चिन्ता में डूब जाता है । अभिमन्यु के वीरगति प्राप्त होने से करुण विलाप करती है, शोकपूर्ण अवस्था में संयोग की एक-एक बात स्मरण करती है । उसका विलाप इतना बढ़ जाता है कि वह बेहोश हो जाती है । क्योंकि वह जानती है कि

''माता-पिता आदिक भले ही और निज जन हों सभी,
पति के बिना पत्नी सनाथा हो नहीं सकती कभी ।''[242]

पति के बिना नारी की कोई दूसरी गति नहीं होती इसलिए उत्तरा मृत्यु की गोद में जाना चाहती है, परन्तु उसके लिए मर मिटना भी असंभव है क्योंकि वह गर्भवती है । नारी ममता के लिए हंमेशा उत्सुक रहती है । यह उसका स्वभाव ही है इसलिए इच्छा न होते हुए भी उसे जीवित रहना पड़ता है । अन्यथा उसे जीवन में कोई रस नहीं लगता । इस तरह उत्तरा में रुढ़िप्रियता, भावुकता तथा कर्तव्यपरायणता अधिक मात्रा में स्पष्ट होती है ।

सुभद्रा :-

गुप्तजीने 'जयद्रथ वध' और 'युद्ध' में सुभद्रा का चरित्र अल्पमात्रा एवं प्रासंगिक रुप में ही किया है । वह श्री कृष्ण की बहन और अर्जुन की पत्नी है । पुत्र-विरह से उसे अपना जीवन शून्यवत लगता है । पुत्र वियोग के कारण उसकी स्थिति दयनीय है । नारी कठोर हो या क्षत्राणी पर वह पुत्र विरह सहने में असमर्थ होती है । यह एक माता के लिए असह्य होता है ।

रानकदे :-

'सिद्धराज' नामक काव्य में रानकदे का चित्रण हुआ है । गुप्तजीने गुणवती, रुपवती, बुद्धिमती, साहसी एवं सती के रुप में चित्रांकन किया है । यह सिन्धुराज की कन्या है पर अशुभ नक्षत्र पर जन्म होने से माता-पिताने त्याग दिया था । एक कुम्हार दम्पती ने इस बालिका का स्वीकार कर 'सोरठा' में रहने लगे । कीचड़ में कमल खिलता है, ठीक उसी तरह उसकी अवस्था है । काँटो की दंडी पर

कमल खिलता हुआ शोभायमान होता है उसी तरह रानकदे बचपन से ही यातनायें सहती है पर वह अपनी तर्कशक्ति के बल पर मुस्कुराती रहती है अपने गुणों की वजह से समस्त गाँव में लोग उसका सम्मान करते हैं । वह अपने बाल्यकाल से ही अत्यंत उद्योगशील है । अपने घर के समीप पौंधे लगाकर सुन्दर वाटिका बनाती है । समस्त गाँव के लोग उपहार में फूल प्राप्त करते है ।(243)) मिट्टी खिलौने बनाकर घर में सजाती है । जहाँ कहीं भी कथा हो तो वहाँ अवश्य पहुँच जाती है । अर्थात वह प्रत्येक क्षेत्र में उत्सुकता बताती है ।

वह एक अनुपम सुन्दरी भी है । उसके रुप एवम् सौन्दर्य की चर्चा सुनकर पाटन का राजा जयसिंह उसे पाने के लिये अत्यंत लालायित हो उठता है । सोरठा का राणा खंगार भी उस पर अनुरक्त होता है । रानकदे इस खंगार नामक वीर पुरुष से प्रभावित हो कर आकर्षित हो जाती है । रानकदे बुद्धिमती भी है । वह तुरन्त समझ जाती है कि जयसिंह केवल रुप का उपभोग लेना चाहता है, गुणों की उसको कोई परवाह नहीं जब कि खंगार उससे सच्चा प्रेम करता है । खंगार को पाने के पश्चात् भी उसके दुर्भाग्य का अन्त नहीं होता । जयसिंह इतना हिंसक बनता है कि खंगार के सिर के दो खण्ड बनाकर दुर्ग पर टांगने के लिए ले जाता है यहाँ तक कि रानकदे के दो शिशुओं की भी हत्या कर उनको भी साथ में ले जाता है । (244) जयसिंह का कहना कि ''अब मेरी चिर प्रेयसी का यौवन अखण्ड है''(245) इस पर रानकदे अत्यधिक प्रक्षुब्ध होकर साहस एवं दृढ़ निश्चय के साथ उसे मुँह तोड़ जवाब देती है -

''मेरे लिए एक चिता चुनने की आज्ञा दो,
और सिर लादो मुझे मेरे पतिदेव का ।''(246)

फिर भी जयसिंह निर्लज्जता से हाथ पकडता है । रानकदे पापी पशु कहकर चिल्ला उठती है । वह जयसिंह की पापमय द्रष्टि से बचकर वह अपने सतीत्व की रक्षा करती है । वह अपने पति का शीश प्राप्त कर स्वयं सती हो जाती है । 'लाज रही रानक की, साध्वी सती हो गई ।'(247)

गुप्तजीने रानकदे का चरित्र क्षत्राणी के रुप में उपस्थित किया है । उसमें आदर्श आर्य नारी के सभी प्रकार के गुण है । वह उदार प्रकृति की अनिंद्य सुन्दरी है । स्वाभिमान और सम्मान की भावना उसमें कूट-कूट कर भरी है । सतीत्व और पतिव्रता के अनुपम आदर्श को उपस्थित किया है ।

मीनलदे :-

'सिद्धराज' नामक कृति में 'मीनलदे' जयसिंह की माता है । वह एक विधवा होने के कारण तपस्विनी की तरह अपना जीवन यापन कर रही है । उसका स्वभाव उज्जवल एवं धार्मिक है ।

मीनलदे दूसरों के प्रति अन्याय एवं कठोरता कदापि सह नहीं सकती । गरीबों की अवस्था को देख वह अत्यंत दुःखी होती है । सोमनाथ के दर्शनार्थ पर राजकर लगाया गया है जो नहीं दे सकता उसे लौटा दिये जाते है । जब मीनलदे को पता चलता है तो वह अत्यंत विचलित हो जाती है । वह समझती थी अपने पुत्र के राज्य में सब कुशल है । अब मैं शांति से मर सकती हूँ । पर वह कहती है कि यह नहीं जानती थी कि 'दीपक के नीचे ही अँधेरा है ।'(248) वह भोजन ग्रहण नहीं करती । जयसिंह तीर्थ कर हटा देते हैं । मीनलदे पुत्र का निरंतर कल्याण चाहती है । उसका पुत्र पर अत्यधिक विश्वास भी है । मरते समय उसे पौत्र का मुख न देखने का भी दुःख है । उसका जीवन प्रारंभ से अंत तक दुःखी है । अपना जीवन साधारण नारी के समान व्यतीत करती है । इसलिए कविने मीनलदे की कोमलता, उदारता एवं वत्सलता पर पूरा प्रकाश डाला है ।

रुपवती :-

'रुपवती का पत्र' के नामसे गुप्तजी की 'पत्रावली' नामक पुस्तक में संग्रहित है । रुपनगर की राजकुमारी रुपवतीने महाराना राजसिंह की कीर्ति सुनकर मन ही मन, उन्हें वरण किया था । किन्तु संकोचन-वश वह अपनी अभिलाषा प्रकट न कर सकी । वह राजसिंह को पत्र न लिखती पर औरंगजेब उसके रुप गुण की प्रशंसा सुनता है तो वह उसे बेगम बनाना चाहता है इसलिए विवश होकर उसे पत्र लिखना पड़ता है । फिर भी पत्र लिखते समय उसे अपनी प्रतिष्ठा एवं कुल की प्रतिष्ठा का पूर्ण ज्ञान है । महाराणा औरंगजेब की सेना पराजित करके रुपवती का पाणिग्रहण करते है । इस तरह रुपवती उचित पात्र को ही अपने प्रेम के लिए चुनती है । भारतीय संस्कृति की रक्षा करने का उत्तरदायित्व अपने पर लेती है और निरंतर उसी उद्योग में लगी रहती है । उसका स्वभाव, मिलनसार, मददगार तथा मनोहारी है, परन्तु भावुकता की मात्रा अधिक है ।

महारानी सिसोदनी :-

औरंगजेब और दारा के बीच में राज्य-प्राप्ति हेतु युद्ध हुआ था। उसमें महाराज जसवन्त सिंहने दारा का साथ दिया परन्तु युद्ध में विरत होकर जोधपुर लौट आते है । इस पर महारानी सीसोदनी को बड़ा क्रोध आता है यहाँ तक कि किले का फाटक भी बन्द कर देती है । इसी सम्बन्ध में महाराज के नाम पत्र लिखती है । वही महारानी सिसोदनी का पत्र के नाम से गुप्तजी द्वारा लिखित 'पत्रावली' में संग्रहीत है ।

महारानी क्षत्राणी है उसे युद्ध से भागे हुए पति को नाथ कहने में भी लज्जा आती है । शत्रु को पीठ दिखाकर भाग आना उसे कदापि पसन्द नहीं है । युद्ध में पति वीरगति होते तो उसे आत्म समर्पण करना अच्छा लगता । पर लज्जित अवस्था में जीवित रहना उसके लिए असह्य होता है ।

इउडोसिया :–

'अर्जन और विसर्जन' गुप्तजी की इस काव्य रचना में इउडोसिया नायिका है । जो धर्मनिष्ठ, देशभक्त तथा अनन्य प्रेममयी है । प्रियकर के प्रति प्रेम भाव है परन्तु उसकी दयनीयता पसन्द नहीं। इसीलिए वह उसे समझाती है कि मनुष्य को अंत तक कर्तव्य करना चाहिए । प्रेम का प्रलाप छोड़कर हमें हमारे निष्ठुर कर्तव्य के लिए तैयार होना चाहिए । वह स्पष्ट कहती है कि शील का उद्देश्य धर्माचरण है, सुख भोग नहीं । अंत में वह अपने प्रेमी के विधर्मी तथा देश-द्रोही हो जाने पर प्राण त्याग करके अपने आदर्श की रक्षा करती है । इस तरह नारियों की परंपरा स्थायी रखने का ही उसका प्रयत्न रहा है ।

सारांश यह है कि गुप्तजी द्वारा लिखित सभी रचनाओं में नारी के विरहिणी रुप, प्रेमिका रुप, मातृ रुप एवम् पत्नी रुप यह चारों रुपों का चित्रण मिलता है । नारी जीवन के साथ संयोग और वियोग हंमेशा संलग्न रहता है । विरहजन्य पीड़ा के कारण उन्हें वियोग की एकादश दशाओं से गुजरना पड़ता है । यह वियोगावस्था उसे विरहिणी के रुप में उपस्थित करती है । अनुराग के क्षण उपस्थित होने पर नारी प्रेम-बंधन में पड़ जाती है , उसका भावुक हृदय प्रेम के रंग में सरोबार होकर उसे एक प्रेमिका के रुप में परिणित कर देता है । नारी का पत्नी का रुप सामाजिक आदर्शो और नर-नारी के पारस्परिक संबंधो पर आधारित रहता है। पत्नी की द्रष्टि से उसे अधिकार भी होते है । पत्नी का रुप उसके व्यक्तित्व को विशिष्टता प्रदान करता है और उसके शीतल स्वभाव का निरुपण भी करता है। मातृ-रुप नारी के जीवन की सार्थकता है । हृदय की संपूर्ण महिमा एवम् वात्सल्यता इसी मातृ-रुप के अंतर्गत द्रष्टिगोचर होती है । वियोगकाल में नारी के मातृहृदय की महिमा अपनी संपूर्ण गरिमा के साथ प्रकट होती है , जो अनुपम है ।

----

(1) गुप्तजी की कला : डा.सत्येन्द्र, पृ.132
(2) भारत-भारती : मैथिलिशरण गुप्त, अतीत खण्ड, पद-40, पृ.11
(3) आधुनिक साहित्य : नंददुलारे वाजपेयी, पृ.11
(4) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, प्रथम सर्ग, पृ.26
(5) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, प्रथम सर्ग, पृ.27
(6) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, प्रथम सर्ग, पृ.28
(7) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, प्रथम सर्ग, पृ.37
(8) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, प्रथम सर्ग, पृ.30
(9) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, प्रथम सर्ग, पृ.110
(10) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, प्रथम सर्ग, पृ.120
(11) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, षष्ठ सर्ग, पृ.161
(12) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, षष्ठ सर्ग, पृ.179
(13) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, अष्ठ सर्ग, पृ.265
(14) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, षष्ठ सर्ग, पृ.265
(15) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, नवम् सर्ग, पृ.269
(16) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, षष्ठ सर्ग, पृ.290
(17) P.B.Shelley : psalmof life
(हिन्दी महाकाव्योत्र में मनोवैज्ञानिक तत्व (द्वितीय भाग) - डा.लालताप्रसाद सक्सेना से उद्धत
(18) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, षष्ठ सर्ग, पृ.300
(19) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, षष्ठ सर्ग, पृ.314
(20) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, षष्ठ सर्ग, पृ.326
(21) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, षष्ठ सर्ग, पृ.334
(22) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, षष्ठ सर्ग, पृ.335
(23) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, षष्ठ सर्ग, पृ.340
(24) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, षष्ठ सर्ग, पृ.341
(25) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, दशम सर्ग, पृ.343,344
(26) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, षष्ठ सर्ग, पृ.347

(27) साकेत : मैथिलिशरण गुप्त, द्वादश सर्ग, पृ.474

(28) आधुनिक साहित्य - नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ.377

(29) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, द्वादश सर्ग, पृ.474

(30) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, द्वादश सर्ग, पृ.474

(31) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, द्वादश सर्ग, पृ.475

(32) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, द्वादश सर्ग, पृ.476

(33) हिन्दी महाकाव्यों में नारी चित्रण : डा.श्याम सुन्दरदास, पृ.106

(34) गुप्तजी की कला - डा.सत्येन्द्र, पृ.133-134

(35) मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य : डा.कमलाकान्त पाठक, पृ.507

(36) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.5

(37) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.42

(38) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.48

(39) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.54

(40) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.56

(41) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.69

(42) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.76

(43) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.83

(44) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.101

(45) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.106

(46) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.178

(47) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.179

(48) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.179

(49) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.180

(50) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.198

(51) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.199

(52) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.202

(53) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.203

(54) यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.206

(55) विचार और विश्लेषण : डा.नगेन्द्र, पृ.214
(56) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (लक्ष्य-वघ प्रसंग) पृ.102
(57) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (लक्ष्य-वघ प्रसंग) पृ.110
(58) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (लक्ष्य-वघ प्रसंग) पृ.112
(59) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (वनवास प्रसंग) पृ.121
(60) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (वन-गमन प्रसंग) पृ.144
(61) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (वन-गमन प्रसंग) पृ.147
(62) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (द्रौपदी और सत्यभामा प्रसंग) पृ.179
(63) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (द्रौपदी और सत्यभामा प्रसंग) पृ.180
(64) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (द्रौपदी और सत्यभामा प्रसंग) पृ.181
(65) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (वन-वैभव सर्ग प्रसंग) पृ.186
(66) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (वन-वैभव सर्ग प्रसंग) पृ.186
(67) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ सर्ग प्रसंग) पृ.215
(68) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ सर्ग प्रसंग) पृ.215
(69) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ सर्ग प्रसंग) पृ.215
(70) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (जयद्रथ सर्ग प्रसंग) पृ.216
(71) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (सैरन्ध्री सर्ग प्रसंग) पृ.235
(72) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (सैरन्ध्री सर्ग प्रसंग) पृ.235
(73) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (सैरन्ध्री सर्ग प्रसंग) पृ.256
(74) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (सैरन्ध्री सर्ग प्रसंग) पृ.258
(75) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (सैरन्ध्री सर्ग प्रसंग) पृ.258
(76) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (सैरन्ध्री सर्ग प्रसंग) पृ.258
(77) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (सैरन्ध्री सर्ग प्रसंग) पृ.267
(78) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (हत्या सर्ग प्रसंग) पृ.407
(79) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त (स्वर्गारोहण सर्ग) पृ.430
(80) हिडिम्बा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.12
(81) हिडिम्बा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.13

(82) हिडिम्बा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.14

(83) हिडिम्बा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.14

(84) हिडिम्बा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.19

(85) हिडिम्बा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.21

(86) हिडिम्बा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.23

(87) हिडिम्बा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.24

(88) हिडिम्बा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.24

(89) हिडिम्बा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.25

(90) हिडिम्बा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.25

(91) काव्य संदर्भ कोष : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.89

(92) काव्य संदर्भ कोष : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.28

(93) काव्य संदर्भ कोष : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.31

(94) काव्य संदर्भ कोष : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.33

(95) काव्य संदर्भ कोष : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.34

(96) काव्य संदर्भ कोष : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.34

(97) काव्य संदर्भ कोष : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.41,42,43

(98) काव्य संदर्भ कोष : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.44

(99) काव्य संदर्भ कोष : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.44

(100) काव्य संदर्भ कोष : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.75

(101) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, अष्टम सर्ग, पृ.252

(102) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.45

(103) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.46

(104) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.47

(105) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, सप्तम सर्ग, पृ.196

(106) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, सप्तम सर्ग, पृ.196

(107) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, अष्टम सर्ग, पृ.247

(108) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, अष्टम सर्ग, पृ.248

(109) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, अष्टम सर्ग, पृ.248

(110) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, अष्टम सर्ग, पृ.249
(111) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, अष्टम सर्ग, पृ.249
(112) मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता : डा.उमाकान्त गोयल,पृ.173
(113) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, चतुर्थ सर्ग, पृ.117
(114) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, चतुर्थ सर्ग, पृ.120
(115) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, पंचम सर्ग, पृ.147
(116) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, चतुर्थ सर्ग, पृ.148
(117) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, अष्टम सर्ग, पृ.222
(118) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, अष्टम सर्ग, पृ.223
(119) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, अष्टम सर्ग, पृ.227
(120) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, अष्टम सर्ग, पृ.230
(121) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, अष्टम सर्ग, पृ.238
(122) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, अष्टम सर्ग, पृ.261
(123) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, अष्टम सर्ग, पृ.264
(124) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, अष्टम सर्ग, पृ.266
(125) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, एकादश सर्ग, पृ.432
(126) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, एकादश सर्ग, पृ.432-433
(127) पंचवटी : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.17, छंद-24
(128) वकसंहार : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.4
(129) वकसंहार : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.21
(130) वकसंहार : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.21
(131) वकसंहार : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.22
(132) वकसंहार : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.26 (जयभारत (वकसंहार सर्ग), पृ.88
(133) वकसंहार : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.33, जयभारत (वकसंहार सर्ग), पृ.90
(134) वकसंहार : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.33
(135) वकसंहार : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.34
(136) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त, (वकसंहार सर्ग), पृ.90
(137) वकसंहार : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.39

(138) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त , कुन्ती और कर्ण सर्ग, पृ.334
(139) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त, कुन्ती और कर्ण सर्ग, पृ.331
(140) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त, बन्दु-विद्वेष सर्ग, पृ.36
(141) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त,कुन्ती और कर्ण सर्ग, पृ.332
(142) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त,कुन्ती और कर्ण सर्ग, पृ.332
(143) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त, कुन्ती और कर्ण सर्ग, पृ.334
(144) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त, शान्ति-संदेश सर्ग, पृ.325
(145) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त, शान्ति-संदेश सर्ग, पृ.325
(146) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त, 'अंत' सर्ग,
(147) हिडिम्बा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.39
(148) हिडिम्बा : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.44
(149) हिन्दी साहित्य की भूमिका : डा.हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ.133
(150) शकुन्तला : मैथिलीशरण गुप्त, जन्म और बाल्य काल, पृ.7
(151) शकुन्तला : मैथिलीशरण गुप्त, दर्शन, पृ.11
(152) शकुन्तला : मैथिलीशरण गुप्त, अवधि, पृ.17
(153) शकुन्तला : मैथिलीशरण गुप्त, अवधि, पृ.18
(154) शकुन्तला : मैथिलीशरण गुप्त, अभिशाप, पृ.21
(155) शकुन्तला : मैथिलीशरण गुप्त, अभिशाप पृ.23
(156) शकुन्तला : मैथिलीशरण गुप्त, बिदा, पृ.27
(157) शकुन्तला : मैथिलीशरण गुप्त, त्याग, पृ.30
(158) शकुन्तला : मैथिलीशरण गुप्त, ाग, पृ.32
(159) शकुन्तला : मैथिलीशरण गुप्त, मिलन, पृ.48
(160) द्वापर : मैथिलीशरण गुप्त, निवेदन, पृ.8
(161) द्वापर : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.29
(162) द्वापर : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.33
(163) द्वापर : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.35
(164) द्वापर : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.35
(165) द्वापर : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.38

(166) द्वापर : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.41
(167) द्वापर : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.42
(168) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.17
(169) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.19
(170) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.20
(171) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.22
(172) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.23
(173) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.36
(174) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.41
(175) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.43
(176) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.43
(177) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.46
(178) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.48
(179) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.58
(180) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.61
(181) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.66
(182) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.70
(183) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.72
(184) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.78
(185) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.83
(186) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.84
(187) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.95
(188) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.131
(189) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.134
(190) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.134
(191) विष्णुप्रिया : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.136
(192) नहुष : मैथिलीशरण गुप्त, पूर्वाभास, पृ.9

(193) नहुष : मैथिलीशरण गुप्त, शची, पृ.17
(194) नहुष : मैथिलीशरण गुप्त, शची, पृ.18
(195) नहुष : मैथिलीशरण गुप्त, शची, पृ.19
(196) नहुष : मैथिलीशरण गुप्त, शची, पृ.19
(197) नहुष : मैथिलीशरण गुप्त, सन्देश, पृ.49
(198) नहुष : मैथिलीशरण गुप्त, सन्देश, पृ.49
(199) नहुष : मैथिलीशरण गुप्त, मन्त्रणा, पृ.54
(200) नहुष : मैथिलीशरण गुप्त, मन्त्रणा, पृ.57, 58
(201) नहुष : मैथिलीशरण गुप्त, मन्त्रणा, पृ.65
(202) नहुष : मैथिलीशरण गुप्त, उर्वशी, पृ.32
(203) नहुष : मैथिलीशरण गुप्त, उर्वशी, पृ.33
(204) नहुष : मैथिलीशरण गुप्त, उर्वशी, पृ.34
(205) नहुष : मैथिलीशरण गुप्त, उर्वशी, पृ.34
(206) नहुष : मैथिलीशरण गुप्त, उर्वशी, पृ.37
(207) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त, द्युत पृ.138
(208) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त, शान्ति-संदेश, पृ.323
(209) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त, कुरुक्षेत्र, पृ.416
(210) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त, कुरुक्षेत्र, पृ.418
(211) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त, कुरुक्षेत्र, पृ.418
(212) जयभारत : मैथिलीशरण गुप्त, कुरुक्षेत्र, पृ.418
(213) महाभारत के प्रमुख नारी पात्र - डा.हुकुमसिंह, पृ.10
(214) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, चतुर्थ सर्ग, पृ.93
(215) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, चतुर्थ सर्ग, पृ.100
(216) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, चतुर्थ सर्ग, पृ.108
(217) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, षष्ठ सर्ग, पृ.169
(218) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, सप्तम् सर्ग, 205
(219) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, सप्तम सर्ग, 205
(220) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, द्वादश सर्ग, पृ.457

(221) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, चतुर्थ सर्ग, पृ.110
(222) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, द्वादश सर्ग, पृ.458
(223) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, एकादश सर्ग, पृ.396
(224) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, एकादश सर्ग, पृ.397
(225) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, एकादश सर्ग, पृ.398
(226) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, एकादश सर्ग, पृ.401
(227) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, एकादश सर्ग, 413
(228) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, द्वादश सर्ग, पृ.451
(229) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, द्वादश सर्ग, पृ.451
(230) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, द्वादश सर्ग, पृ.460
(231) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, द्वितीय सर्ग, पृ.45
(232) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, द्वितीय सर्ग, पृ.46
(233) साकेत : मैथिलीशरण गुप्त, द्वितीय सर्ग, पृ.47
(234) द्वापर : मैथिलीशरण गुप्त, देवकी, पृ.83
(235) द्वापर : मैथिलीशरण गुप्त, देवकी, पृ.83
(236) द्वापर : मैथिलीशरण गुप्त, देवकी, पृ.88
(237) द्वापर : मैथिलीशरण गुप्त, देवकी, पृ.92
(238) पंचवटी : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.32
(239) पृथिवीपुत्र : मैथिलीशरण गुप्त, जयिनी, पृ.48
(240) रत्नावली : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.17
(241) रत्नावली : मैथिलीशरण गुप्त, पृ.75
(242) जयद्रथ-वघ : मैथिलीशरण गुप्त, द्वितीय सर्ग, पृ.25
(243) सिद्धराज : मैथिलीशरण गुप्त, तृतीय सर्ग, पृ.61
(244) सिद्धराज : मैथिलीशरण गुप्त,तृतीय सर्ग, पृ.78
(245) सिद्धराज : मैथिलीशरण गुप्त, तृतीय सर्ग, पृ.79
(246) सिद्धराज : मैथिलीशरण गुप्त, तृतीय सर्ग, पृ.79
(247) सिद्धराज : मैथिलीशरण गुप्त, तृतीय सर्ग, पृ.83
(248) सिद्धराज : मैथिलीशरण गुप्त, तृतीय सर्ग, प्रथम सर्ग, पृ.61